

ते च कर्मबन्धन (निबन्धन) मूर्च्छानिमित्तत्वात्त्याज्यतयोनपदिष्टाः। यदात्राह -

‘मूर्च्छालक्षणकरणात् सुघटा व्ययप्तिः परिग्रहत्वस्य ।

सग्रन्थो मूर्च्छवान् विनापि किल शेषसंगेभ्यः ॥’

‘यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोऽपि बहिरगुः।

भवति नितरां यतोऽसौ धत्ते मूर्च्छानिमित्तत्वम् ॥’

‘एवमतिव्याप्तिः स्यात्परिग्रहस्येति चेद् भवेन्नैवम् ।

यस्मादकषायाणां कर्मगहणे न मूर्च्छाऽस्ति<sup>१</sup> [पुरुषार्थ. ११२-११४ ]

अग सगुडत्यागविधिमाह----

परिमुष्य करणगोचरमरीचिकामुज्झिताखिलारम्भः।

त्याज्यं ग्रज्यमशेषं त्यक्त्वापरनिर्ममः स्वशर्म भजेत् ॥१०६॥

करणगोचरमरीचिकां--करणैश्चक्षुरादीन्द्रियैः क्रियमाणा गोचरेषु रूपादिविषयेषु मरीचिका  
प्रतिनियतवृत्त्यात्मनो मनाक्प्रकाशः । अथवा करणगोचरा इन्द्रियार्था मरीचिका मृगतृष्णोव जलबुध्दया

श्वेताम्बर साहित्यामं सिध्दसेन गणिकी तत्त्वार्थटीकामं ( ७/१२) अन्तरंग परिग्रहकी संख्या तो  
चौदह बतलायी है किन्तु बाह्य परिग्रहकी संख्या नहीं लिखी । उनमें -- से अभ्यन्तर परिग्रहके चौदह भेद  
हैं --- राग,द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यादर्शन, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा और वेद ।  
बाह्य परिग्रह --- वास्तु, क्षेत्र, धन, धान्य, शय्या, आसन, यान, कुप्य, द्विपद, त्रिपद, चतुष्पद और भाण्ड  
हैं ।

अभ्यन्तर परिग्रहमें वेदको एक गिना है और रागद्वेषको मिलाकर १४ संख्या पूरी की है । किन्तु  
बाह्य परिग्रह अलग गिननेसे १२ होते हैं। इसमें त्रिपद नवीन है जो अन्यत्र नहीं हैं। वैसे इस परम्परामें ९  
बाह्य परिग्रह गिनाये हैं । यथा - धर्म संग्रहकी टीकामें कहा है --- धन १, धान्य २, क्षेत्र ३, वास्तु ४,  
रुप्य ५, सुवर्ण ६, द्विपद ८, चतुष्पद ९ ये बाह्य परिग्रह हैं । हेमचन्द्रने भी नौ बाह्य परिग्रह कहे हैं ॥ १०५  
॥

परिग्रहके त्यागकी विधि कहते हैं ----

मरीचिकाके तुल्य इन्द्रिय विषयोंको त्याग कर समस्त सावद्य क्रियाओंको भी त्याग दे । तथा  
छोडनेकेलिए शक्य गृह --- गृहिणी आदि समस्त परिग्रहको त्याग कर, जिसका छोडना शक्य नहीं है ऐसे  
शरीर आदिमें यह मेरा है ’ यह यह मैं हूँ ’ इस प्रकारका संकल्प दूर करके आत्मिक सुखको भोगना  
चाहिए ॥ १०६ ॥

विशेषार्थ --- इन्द्रियोंके विषय मरीचिकाके तुल्य हैं । सूर्यकी किरणोंके रेतमें पडनेसे वनमें मृगोंको जलका भ्रम होता है उसे मरीचिका कहते हैं । जैसे मृग जल समझकर उसके लिए दौडता है वैसे ही लोग सुख मानकर बड़ी उत्सुकतासे इन्द्रियोंके विषयोंकी और दौडते हैं । अतः वे सर्वप्रथम त्यागने चाहिए । उसके बाद समस्त आरम्भको त्यागकर छोड सकने योग्य सभी प्रकारके परिग्रहोंको छोड देना चाहिए । बालकी नोकके बराबर भी छोडने योग्य

१. धनं धान्यं स्वर्णरूप्यकून्यानि क्षेत्रवास्तुनी ।

द्विपाच्चतुष्पाच्चोति स्युर्नव बाह्याः परिग्रहाः ॥ योगशास्त्र २/११५ की वृत्ति ।

मृगौरिव सुखबुद्धया लोकैस्त्युक्त्यादभिगम्यमानत्वात् । त्याज्यं --- त्यक्तुं ( शक्यं ) गृहगृहिण्यादिकम् ।

अपरनिर्ममः --- त्यक्तुमशक्यशरीरादौ ममेदमिति संकल्परहितः । उक्तं च ---

जीवाजीवणिबुद्धां परिग्रहा जीवसंभवा चेव ।

तेसिं सक्कच्चाओ इय भणिओ णिम्ममो संगो ॥ ' [ ] ॥ १०६ ॥

परिग्रहको अपने पास नहीं रखना चाहिए । अपने पास न रखनेसे ऐसा अशय नहीं लेना चाहिए कि स्वयं न रखकर किसी दूसरेके अधिकारमें रख दे जैसा कि आजकल साधु संघ मोटर रखते हैं और उसे किसी संघस्थ श्रावकको सौंप देते हैं । यह परिग्रहका त्याग नहीं है उसका भोग है । क्योंकि यद्यपि साधु स्वयं मोटरमें नहीं बैठते किन्तु उनका संकल्पजाल उसमें बराबर रहता है । अपरिग्रही साधुके लिए तो जो छोडा नहीं जा सकता उस शरीरमें भी ममत्व भाव त्याज्य है । मोहके उदयसे ममकार और अहंकार होते हैं । ममकार और अहंकार करनेसे आत्मा रागमें होता है ।

इन दोनोंका स्वरूप इस प्रकार कहा है --- जो सदा आत्माके नहीं हैं और कर्मके उदयसे बने हैं ऐसे अपने शरीर वगैरहमें यह मेरा है ' इस प्रकारका अभिप्राय ममकार है । जैसे मेरा शरीर । जो भाव कर्म जन्य हैं और निश्चयनयसे आत्मासे भिन्न हैं उन्हें अपना मानना अहंकार है । जैसे मैं राजा हूँ' । तो जिस परिग्रहको छोडना शक्य नहीं है उसमें भी ममकार करना जब परिग्रह है तब जिसका त्याग कर चुके उसे ही प्रकारन्तरसे अपनाना तो परिग्रह है ही । और परद्रव्यका ग्रहण ही बन्धका कारण है तथा स्वद्रव्यमें ही लीन होना मार्क्षका कारण है । कहा है - जो परद्रव्यको स्वीकार करता है, उसमें ममत्व भाव रखता है, वह अपराधी है अतः अवश्य बँधता है । और जो यति स्वद्रव्यमें लीन रहता है वह निरपराधी है अतः नहीं बँधता ।

और भी कहा है--जो कोई भी भुक्त हुए है वे भेद विज्ञानसे मुक्त हुए हैं । और जो कोई बँधे हैं वे उसी भेदविज्ञानके अभावसे बँधे हैं यह निश्चित है । भेद विज्ञानसे मतलब है मात्र अपने शुद्ध आत्मामें और आत्मिक गुणोंमें स्वत्व भाव और उससे भिन्न कर्मजन्य सभी भावोंमें आत्मबुद्धिका निरास । यह भेद विज्ञानकी भावना सतत चलती रहना चाहिए । इसका विच्छेद होनेपर ममत्वभाव आये बिना रहता नहीं । परिग्रहको छोड देने मात्रसे वह नहीं छूटती उसके लिए सदा जागरुक रहना पडता है क्योंकि उसकी जड तो ममत्व भाव है ॥१०६॥

जिसपर धन-धान्य आदि परिग्रहका भूत सवार रहता है वह मिथ्यात्व हास्य, वेद, रति, अरति, शोक , भय , जुगुप्सा , मान , कोप , माया और लोभके वशीभूत होकर जहाँ-तहाँ कैसी प्रवृत्ति करता है इसे क्रमसे बतलाते हैं-

परिग्रहरूपी भूतसे पीडित व्यक्ति अनर्थको अर्थरूप श्रद्धा करता है अर्थात् अतत्त्वभूत वस्तुको तत्त्वभूत मानता है। इससे मिथ्यात्व नामक अभ्यन्तर परिग्रहका प्रभाव बतलाया है। अवयरकी तो बात ही क्या, बिना अवसरके भी हँसता है। यह हास्य नामक परिग्रहका प्रभाव है। अगम्या स्त्रीको भी पसन्द कर लेता है अर्थात् यदि गुरु, राजा आदिकी पत्नी लालच दे कि यदि तुम मेरे साथ सहवास करोगे तो मैं तुम्हें यह-यह दूँगी तो उसके लोभमें आकर उसका कहा करता है। यह पुरुषवेद नामक परिग्रहका माहात्म्य है। इसी प्रकार स्त्रीवेद और नपुंसकवेदका भी जानना। अरुचिकर भील आदिके गाँवोंमें भी जा बसता है। यह रति नामक परिग्रहका प्रभाव है। दैववश आयी हुई विपत्तिमें भी शोक करता है। यह शोक नामक परिग्रहका प्रभाव है। जिस किसीसे भी डरकर चाहे वह डरका कारण हो अथवा न हो भयभीत होता है। यह उसके भय नामक परिग्रहका प्रभाव है। दोषीकी तो बात ही क्या, गुणवान्से भी घृणा करता है। यह जुगुप्सा नामक परिग्रहका प्रभाव है। अस्थानमें भी क्रोध, मान और मायाचार करना है। यह उसके क्रोध, मान और माया नामक परिग्रहका प्रभाव है। अधिक क्या कहें, परिग्रहका भावनासे पीडित होकर समस्त विश्वको भी अपने अदरमें रख लेना चाहता है। यह लोभ नामक परिग्रहका प्रभाव है। यह बड़े ही खेद या आश्चर्यकी बात है। ये सब अन्तरंग परिग्रह हैं ॥१०७॥

इस तरह अन्तरंग परिग्रहका माहात्म्य बतलाकर आगे सामान्य रूपसे चेतना और अचेतना दोनों ही प्रकारकी बाह्य परिग्रहको छोडना कितना कठिन है यह बतलाते हैं---

पूर्वजन्ममें इस जीवने शरीरमें 'यह मैं हूँ' या 'यह मेरा है' इस प्रकारका निश्चय करके जो पुद्गलविपाकी नामकर्मा बाँधा था उसके उदयसे यह शरीर प्राप्त हुआ है। इस शरीरके सम्बन्धसे जो ये स्त्री-पुत्रादि तथा गृह आदि प्राप्त हैं यद्यपि ये सब बाह्य हैं तथापि मूढ बुद्धि जन अन्तरंगमें किसी अलौकिक गाढे बन्धनसे बद्ध है। जब वह उनके द्वारा पीडित होकर, उस बन्धनको काटना चाहता है अर्थात् स्त्री-पुत्रादिकको छोडना चाहता है तो विषादरूपी जलकी वर्षासे उस बन्धनको बाढा कर लेता है। अर्थात् देखा जाता है कि पानी डालनेसे रस्सीकी गाँठ और भी दृढ हो जाती है। इसी तरह स्त्री-पुत्र आदिके छोडनेका संकल्प करके भी उनके वियोगकी भावनासे जो दुःख होता है उससे पुनः दुःखदायक असातावेदनीय कर्मका ही बन्ध कर लेता है ॥१०८॥

विशेषार्थ--पूर्वजन्ममें बाँधे गये कर्मके उदयसे शरीर मिला है। शरीरके सम्बन्धसे स्त्री-पुत्रादि प्राप्त हुए

हैं। स्त्री, पुत्र, गृह आदि बाह्य हैं। तथापि आश्चर्य यह है कि बाह्य होकर भी अन्तरंगको बाँधते हैं और जब इनसे दुखी होकर इन्हें छोड़ना चाहता है तो उनके वियोगकी कल्पनासे आकुल होकर और भी तीव्र कर्मका बन्ध करता है ॥१०८॥

आगे सोलह पद्योंसे बाह्य चेतन परिग्रहके दोषोंको कहना चाहते हैं। उनमें-से प्रथम पाँच पद्योंसे स्त्रीके दोषोंको कहते हैं क्योंकि स्त्री गाढ रागमें निमित्त है--

यह मूढ प्राणि शरीरके साथ अपना तादात्म्य मानता है। उसका मत है कि शरीर ही मैं हूँ और मैं ही शरीर शरीर हूँ। इसी भावनासे प्रेरित होकर वह रतिसुखके लिए उत्कण्ठित होता है और अपनेसे अत्यन्त भिन्न भी स्त्रीको वेद मन्त्रोंके द्वारा अपनेमें स्थापित करके उसके उच्छ्वासके साथ उच्छ्वास लेता है, उसके सुखमें सुख और दुःखमें दुःखका अनुभव करता है। खेद है कि वह कृतघ्न अपना विरोधी मानकर अन्य जनोंकी तो बात ही क्या, माता-पिता आदिका भी तिरस्कार करना है कि इन्होंने मेरा कुछ भी नहीं किया, मैं तो अपने पुण्योदयसे ही बना हूँ ॥१०९॥

विशेषार्थ--शरीरमें आत्मबुद्धिकी भावनासे ही शरीरमें राग पैदा होता है और यह राग ही रतिसुखकी उत्कण्ठा पैदा करना है। उसीकी पूर्तिके लिए मनुष्य विवाह करता है। विवाहेके समय ब्राह्मण पण्डित वैदिक मन्त्र पढ़कर स्त्री और पुरुषको एक सूत्रमें बाँध देते हैं। फिर तो वह स्त्रीमें ऐसा आसक्त होता है कि माता - पिताको भी कुछ नहीं समझता। यह बात तो जन- जनके अनुभवकी है। कौन ऐसा कृतज्ञ है जो स्त्रीकी उपेक्षा करके माता- पिताकी बात रखे। घर - घरमें इसीसे कलह होता है। वृद्धावस्थामें माता- पिता कष्ट उठाते हैं और स्त्रीके भयसे पुत्र उनकी उपेक्षा करता है। इसका मूल कारण विषयासक्ति ही है। और इस विषयासक्तिका मूल कारण शरीरमें आत्मबुद्धि है। जबतक यह विपरीत बुद्धि दूर नहीं होती तब तक इस परिग्रहसे छुटकारा नहीं हो सकता ॥ १०९ ॥

इस तरह स्त्रीमें आसक्त मनुष्य माता आदिका भी तिरस्कार करके कृतघ्न बनता है यह दिखाकर वचनभंगीके द्वारा यह प्रकट करते हैं कि यह जीव स्त्रीके मरणका भी अनुगमन करके कठिनतासे समाप्त होनेवाले दुर्गैतिके दुःखोंका भोगता है -

मुझे आगे चिरकाल तक साधारण निगोद पर्यायमें जन्म लेनेका उत्कृष्ट दुःसह दुःख भोगना पड़ेगा, यह देखकर स्त्रीमें आसक्त मूढ मनुष्य मानो अभ्यास करनेके लिए अपनी प्राणप्यारी स्त्रीका मृत्युमें भी अनुगमन करता है अर्थात् उसके मरनेपर स्वयं भी मर जाता है ॥ ११० ॥

विशेषार्थ - निगोदिया जीवोंको साधारणकाय कहते हैं। क्योंकि उन सबका आहार, श्वासोच्छ्वास, जीवन - मरण एक साथ होता है। स्त्रीमें अत्यन्त आसक्त मोही जीव मरकर साधारण कायमें जन्म ले सकता है। वहाँ उसे अन्य अनन्त जीवोंके साथ ही चिरकाल तक जीना- मरना पड़ेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि उसीके अभ्यासके लिए ही मोही जीव स्त्रीके साथ मरता है ॥ ११० ॥

पत्नी सम्भोग और विप्रलम्भ श्रृंगारके द्वारा मनुष्यको पुरुषार्थसे भ्रष्ट करती है इसका उलाहना देते हैं ३

प्रक्षोभ्यालोकमात्रादपि रुजति नरं यानुरज्यानुवृत्त्या  
प्राणैः स्वार्थापकर्षं कृशयति बहुशस्तन्वती विप्रलम्भम् ।  
क्षेपावज्ञाशुगिरच्छाविहतिविलपनाद्युग्रमन्तर्दुनोति,  
प्राज्या गन्त्वामिषादामिषमपि कुरुते सापि भार्याऽहहार्या ॥ १११ ॥

प्रक्षोभ्येत्यादि । पूर्वानुरागद्वारेण दुःखापादकत्वोक्तिरियम् । तल्लक्षणं यथा -

स्त्रीपुंसयोर्नवालोकादेवोल्लसितरागयोः ।  
ज्ञेयः पूर्वानुरागोऽयमपूर्णस्पृहयोर्दशा ॥ [ ]

अनुरज्येत्यादि । संभोगमुखेन बाधकत्वकधन ( ? ) मिदम् । कामिन्यो हि रहसि यथारू चि  
कामुकाननुवृत्त्य यथेष्टं चेष्टयन्ति । तदुक्तम् -

यद्यदेव रुरुचे रुचितेभ्यः सुभ्रुवो रहसि तत्तदकुर्वन् ।  
आनुकूलिकतया हि नराणामाक्षिपन्ति हृदयानि रमण्यः<sup>६</sup> [ ]

स्वार्थापकर्षमादि प्रच्याव्य । विप्रलम्भं - प्रणयभङ्गेर्ष्याप्रभवमानश्रुडारं प्रवासं च । क्षेपः - धिक्कारः  
। शुक्- शोकः । विलपनं - परिवेदनं रामस्य यथा -

स्निग्धःश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्वलाका घना  
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।  
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्व सहे  
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव<sup>६</sup> [ काव्यप्रकाश, ११२ श्लो. ]

अपि च -

हारो नारोपितः कण्ठे स्पर्शविच्छेदभीरुणा ।  
इदानीमन्तरे जाताः पर्वताः सरितो द्रुमाः ॥, [ ]

जो पत्नी अपने रू पके दर्शन मात्रसे ही मनुष्यके मनको अन्यन्त चंचल करके उसे सन्तप्त करती  
है, फिर पतिकी इच्छानुसार चलकर, उसे अपनेमें अनुरक्त करके धर्म आदि पुरुषार्थसे डिगाकर उसके  
बल, आयु, इन्द्रिय आदि प्राणोंको कमजोर बना देती है, तथा तिरस्कार, अनादर, शोक, इष्टघात, रुदन  
आदिके द्वारा असह्य विप्रलम्भको बढ़ाकर अर्थात् कभी रू ठकर, कभी प्रणयकोप करके, कभी पिताके घर  
जाकर मनुष्यके अन्तःकरणको दुःखी करती है । इस तरह नाना प्रकारके दुःखरू पी राक्षसोंको ग्रास बना

देती है। आश्चर्य है कि फिर भी मनुष्य पत्नीको आर्या मानता है। अथवा खेद है कि फिर भी कामी जन पत्नीको हार्या - हृदयको हरनेवाली प्यारी मानते हैं ॥ १११ ॥

विशेषार्थ - विप्रलम्भ शृंगारके चार भेद कहे हैं - पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुणा। इनमें - से पहले - पहलेका तीव्र होता है। अर्थात् सबसे तीव्र पूर्वानुराग है। प्रथम दर्शनसे जो अनुराग होता है वह तीव्र पीडाकारक होता है। उसके बाद विवाह होनेपर

१ . दृशोः भ. कु. च.।

कत्वमुक्तम् भ. कु. च.।

- ष धर्मादिपुरुषार्थात्प्रच्याव्य भ. कु. च.।

परिदेवनं भ. कु. च.

जो सम्भोग होता है वह मनुष्यकी शक्ति आदिको क्षीण करता है। फिर भी मनुष्य स्त्रीमें अत्यधिक आसक्त होता जाता है। तब स्त्री रू ठती है, खाना नहीं खाती, या पिताके घर चली जाती है या रोती है इन सबसे मनुष्यका मन दुःखी होता है ॥ १११ ॥

इन पूर्वानुराग आदि शृंगारके द्वारा स्त्री किस तरह पुरुषको कष्ट देती है यह दृष्टान्त द्वारा क्रमसे स्पष्ट करते हैं -

सुलोचनाने अपने रू पकी आसक्तिसे जयकुमारको विपत्तियोंके समुद्रमें ला पटका, उसे चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिसे युद्ध करना पडा। वज्रदन्त चक्रवर्तीकी पुत्री श्रीमतीने अपने साथ अपने पति वज्रजंघको भी विषयासक्त बनाकर दुर्मरणका पात्र बनाया। सीताने प्रेमकलहमें अभिमान, कदाग्रह, वियोग, युद्ध और अनाचारकी शंका आदिके द्वारा रामचन्द्रको कष्ट पहुँचाया। और बडा खेद है कि द्रौपदीने अपने पति अर्जूनको किस विपत्तिमें नहीं डाला ॥ ११२ ॥

विशेषार्थ - ऊपर विप्रलम्भ शृंगारके चार भेद कहे हैं। यहाँ उन्हें दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया है। महापुराणमें जयकुमार- सुलोचनाकी कथा प्रसिद्ध है। जयकुमार भगवान ऋषभदेवकी आहारदान देनेवाले राजा सोमका पुत्र था। उसने सम्राट् भरतका सेनापति होकर मेघकुमारको जीता था। इससे वह मेघेश्वर जयकुमार कहे जाते थे। काशीराज अकम्पनकी पुत्री सुलोचना जब विवाह योग्य हुई तो उसका स्वयंवर हुआ। उसमें जयकुमार और सम्राट् भरतका पुत्र अर्ककीर्ति भी उपस्थित हुए। सुलोचनाने पूर्वानुरागवश जयकुमारका वरण किया। इस तरह सुलोचनाने पूर्वानुरागवश जयकुमारको विपत्तिमें डाला। इस तरह पूर्वानुरागविप्रलम्भ दुःखदायी है। दूसरा उदाहरण है सम्भोगशृंगारका। श्रीमती और वज्रजंघ परस्परमें बडे अनुराक्त थे। एक दिन वे दोनों शयनागारमें सोते थे। सुगन्धित धूप जल रही थी। द्वारपाल झरोखे खोलना भूल गया और दोनों दम घुटनेसे मर गये। इस तरह सम्भोग

श्रृंगार दुःखदायी है । यह कथा महापुराणके विम पर्वमें आयी है । तीसरा उदाहरण है सीताका । वनवासके समय जब लक्ष्मण राक्षसोंसे युध्द करने गया था और मारीचने

कपटसे हा राम, हा रामकी ध्वनि की तो सीताने घोर आग्रह करके रामको उसकी मददके लिए भेजा । पीछेसे रावणने उसका हरण किया । उसके वियोगमें रामने घोर कष्ट सहन किया । फिर सीताके विषयमें यह आशंका की गयी कि रावणके घरमें इतने लम्बे समय तक रहनेसे वह शीलवती कैसे हो सकती है । इससे भी रामचन्द्रको मार्मिक व्यथा हुई और उन्हें सीताकी अग्निपरीक्षा लेनी पडी । ये सब मान- प्रवास नामक विप्रलम्भके द्वारा दुःखोत्पत्तिके उदाहरण हैं । यह सब कथा पद्मपुराणमें वर्णित है । तथा पंचालदेशके राजा द्रुपदकी पुत्री द्रौपदी तो प्रसिध्द है । स्वयंवर मण्डपमें उसने अर्जूनके गलेमें वरमाला डाली तो वह टूटकर पाँचो पाण्डवोंपर गिरी । इससे यह अपवाद फैला कि उसने पाँचो पाण्डवोंको वरण किया है । वरणके बाद अर्जूनका स्वयंवर में आगत कौरव आदि राजाओंसे युध्द करना पडा । जुएमें हार जानेपर कौरव सभामें द्रौपदीका चीर हरण किया गया । जो आगे महाभारतका कारण बना । यह सब कथा हरिवंशपुराणमें वर्णित है । यह पूर्वानुराग और प्रवास विप्रलम्भके द्वारा दुःखका उत्पादक दृष्टान्त है

॥ ११२ ॥

आगे बतलाते हैं कि स्त्रीकी रक्षा करना बहुत कठिन है, उनका यदि शील भंग हो जाये तो बडा कष्ट होता है, वे सद्गुरुओंकी संगतिमें बाधक हैं, उनसे परलोकके लिए उद्योग करनेमें रुकावट पडती है । अतः मुमुक्षुओंको पहले ही उनका पाणिग्रहण नहीं करना चाहिए -

दूसरोंकी तो बात ही क्या, पुत्र भी यदि प्रियाके निकट रहे तो उसपर भी दोषारोपण लोक करते हैं और यह उचित भी है क्योंकि तिर्यच पुरुषका भी सम्बन्ध स्त्रीको दूषित कर देता है फिर मनुष्यका तो कहना ही क्या है । तथा अपनी पत्नीके शीलभंगकी बात भी सुनकर मनुष्यका मन सदा खेदखिन्न रहता है । स्त्रीसे प्रीति टूट जानेके भयसे मनुष्य धर्मगुरुओंके पास भी नहीं जाता । पुत्रमरण आदि किसी कारणसे घर छोडना चाहते हुए भी स्त्रीके बन्धनमें बँधा हुआ घरमें ही जराजीर्ण होता है - बढा होकर मर जाता है

॥ ११३ ॥

विशेषार्थ - कहावत प्रसिध्द है कि विवाह ऐसा फल है कि जो खाता है वह पछताता है । नीतिशास्त्रमें भी कहा कि रू पवती भार्या शत्रु है । जो लोग वृध्दावस्थामें विवाह करते हैं उन्हें अपनी नयी नवेलीमें अति आसक्ति होती है । फलतः यदि उनका युवा पुत्र अपनी नयी माँसे अधिक प्रीति करता है तो उन्हें यह शंका सदा सताती रहती है कि कहीं

वह मेरी पत्नीसे फँसे न जाये । और ऐसी शंका उचित भी है, क्योंकि पुरुषकी ता बात ही क्या, पशुका संसर्ग भी स्त्रीको बिगाडता है । प्रभंजन चरितमें एक रानीकी कथा वर्णित है जो बन्दरपर आसक्त थी । जो स्त्रियाँ कुत्ते पालती हैं उनके सम्बन्धमें भी ऐसा ही सुना जाता है । फिर अपनी स्त्रीके शीलभंगकी बात भी कोई कह दे तो बडा कष्ट होता है । स्त्रीके मोहवश ही मनुष्य साधु-सन्तोंके

समागमसे डरता है। कभी सांसारिक कष्टोंसे घबराकर घर छोड़नेका विचार भी करता है किन्तु स्त्रीसे बँधकर घरमें ही वृद्ध होकर कालके गालमें चला जाता है। अतः मुमुक्षुओंको विवाह ही नहीं करना चाहिए यह उक्त कथनका सार है ॥ ११३ ॥

इस प्रकार स्त्रीके रागमें अन्धे मनुष्योंकी बुराई बतलाकर अब पुत्रके मोहसे अन्धे हुए मनुष्योंकी बुराई बतलाते हैं -

जो गर्भभावसे लेकर पत्नीके स्वास्थ्य - सौन्दर्य आदि गुणोंको हरकर मनुष्यके धर्म, अर्थ और काममें कमी पैदा करता है, युवावस्थामें पिताके धनपर कब्जा करके प्रायः उसके प्रतापको नष्ट करता है, यदि वह मूर्ख या पापी हुआ अथवा किसी विपत्तिमें पड़ गया, या असमर्थ अथवा अविवेकी होनेसे माता-पिताके उपकारको भुला बैठा तो शरीरमें घुसी हुई कीलकी तरह कष्ट देता है। ऐसा भी पुत्र घरेलू व्यवहारमें विमूढ गृहस्थोंके द्वारा यह मेरा पुत्र नामधारी आत्मा है, इस प्रकार अपनेसे अभिन्न माना जाता है ॥ ११४ ॥

विशेषार्थ - माता - पिताके रज और वीर्यको आत्मसात् करनेवाले जीवको गर्भ कहते हैं और उसके भावको अर्थात् स्वरूपस्वीकारको गर्भभाव कहते हैं। पुत्रोत्पत्तिसे स्त्रीके स्वास्थ्य और सौन्दर्यमें कमी आ जाती है। साथ ही, स्त्री फिर पुत्रके मोहवश पतिसे उतनी प्रीति भी नहीं करती। फलतः पुरुषके भोगमें विघ्न पड़ने लगता है। युवा होनेपर पुत्र धनका मालिक बन बैठता है। कहा भी है - उत्पन्न होते ही स्त्रीका, बड़ा होनेपर बडप्पनका और समर्थ होनेपर धनका हरण करता है। अतः पुत्रके समान कोई वैरी नहीं है। यदि पुत्र पढा- लिखा नहीं या चोर, व्यभिचारी हुआ और जेलखानेमें बन्द हो गया या माता-पिताके

उपकारको भूलकर उन्हें सताने लगा तो रात - दिन हृदयमें काँटेकी तरह करकता रहता है<sup>६</sup> और भी कहा है - अजात ( पैदा नहीं हुआ ), मर गया और मूर्ख इन तीनोंमें - से मृत और अजात पुत्र श्रेष्ठ हैं क्योंकि वे तो थोडा ही दुःख देते हैं किन्तु मूर्ख पुत्र जीवन - भर दुःख देता है<sup>६</sup>

इस तरह पुत्र दुःखदायक ही होता है फिर भी मोही माता - पिता उसे अपना ही प्रतिरूप मानते हैं। कहते हैं, मेरी ही आत्माने पुत्र नामसे जन्म लिया है। मनु महाराजाने कहा है - पति भार्यामें सम्यक् रूपसे प्रवेश करके गर्भरूप होकर इस लोकमें जन्म लेता है ' ॥ ११४ ॥

आगे इस प्रकार पुत्रके विषयमें स्वाभाविक और औपाधिक भ्रान्तियोंकी दूर करके मुमुक्षुओंको मोक्षमार्गमें स्थापित करते हैं -



जो पुत्र प्रतिकूल विधि अथवा शास्त्र विरुद्ध आचारका सहायक होता हुआ पापकर्मकी उदीरपणा या तीव्र मोहको उत्पन्न करके जीवित पिता- दादा आदिके भी प्राणोंका घात करता है, उनकी अन्तरात्माको कष्ट पहुँचाता है या उन्हें अत्यन्त मोही बनाकर धर्मकर्ममें लगने नहीं देता, वह पुत्र मरे हुए पितरोंको पिण्डदान करके तर्पण करेगा, यह स्वाभाविक या परोपदेशसे उत्पन्न हुई जन्मान्धताको हे आर्य ! तू छोड दे । और सम्यक्विहित आचारकेद्वारा संसार - समुद्रसे उध्दार करनेवाला मेरा आत्मा ही मेरा आत्मज है - पुत्र है इस प्रकारकी दृष्टिको सदा उज्ज्वल बना ॥ ११५ ॥

विशेषार्थ - पुत्र यदि अविनीत होता है तो पापकर्मकी उदीरणामें निमित्त होता है क्योंकि पापकर्मके उदयसे ही इस प्रकारका पुत्र उत्पन्न होता है जो माता - पिताकी अवज्ञा करके उन्हें कष्ट देता है । और यदि पुत्र विनयी, आज्ञाकारी होता है तो उसके मोहमें पडकर माता - पिता धर्म-कर्मको भी भुला बैठते हैं । इस तरह दोनों ही प्रकारके पुत्र अपने पूर्वजोंके प्राणोंको कष्ट पहुँचाते हैं । फिर भी हिन्दू धर्ममें कहा है कि जिसके पुत्र नहीं होता उसकी गति नहीं होती । वह प्रेतयोनिमें ही पडा रहता है । प्रेतयोनिसे तभी निकास होता है जब पुत्र पिण्डदान करता है । उसीको लक्ष्यमें रखकर ग्रन्थकार कहते हैं कि जो पुत्र जीवित

अवस्थामें ही अपने पिता आदिको कष्ट पहुँचाता है । वह मरने पर पिण्डदान करके हमारा उध्दार करेगा यह जो मिथ्या धारणा है चाहे वह कुलागत हो या किसीके उपदेशसे हुई हो उसे तो छोड दे । क्योंकि किसीके पिण्डदानसे मरे हुए का उध्दार कैसे हो सकता है । कहा भी है - यदि ब्राह्मणों और कौओंके द्वारा खाया गया अन्न परलोकमें पितरोंको तृप्त करता है तो उन पितरोंने पूर्व जन्ममें जो शुभ अशुभ कर्म किये थे वे तो व्यर्थ ही हुए कहलायें

अतः इस मिथ्याविश्वासको छोडकर सदा यही दृष्टि बनानी चाहिए कि आत्माका सच्चापुत्र यह आत्मा ही है क्योंकि यह आत्मा ही सम्यक् आचरणकेद्वारा संसार - समुद्रसे अपना उध्दार करनेमें समर्थ है । दूसरा कोई भी इसका उध्दार नहीं कर सकता ॥ ११५ ॥

जो पुत्रियोंके मोहसे मूढ बने हुए हैं उनके भी स्वार्थके नाशको खेद सहित बतलाते हैं -

जिसके जन्मकी बात माता - पिता आदिके लिए अचानक हुए मुद्गरके आघातकी तरह लगती है, जिसके वरके विषयमें माता आदिका चित्त कहीं भी चैन नहीं पाता, विवाहनेपर यदि उसके सन्तान न हुई या वह दुराचारिणी हुई तो भर्ताको अप्रिय - अभागिनीकी तरह माता आदिके हृदयमें रात- दिन कष्ट देती है, यदि पति मर गया या परदेश चला गया अथवा नपुंसक हुआ तो माता आदिके अन्तःकरणको जलाया करती है । ऐसी दुःखदायक पुत्रीमें पुत्रकी तरह मोह करनेवाले अन्धे मनुष्य स्वार्थका घात करते हैं यह बडे खेदकी बात है ॥ ११६ ॥

विशेषार्थ - पुत्री उत्पन्न हुई है' यह सुनते ही माता - पिता दुःखसे भर उठते हैं, जब वह विवाह योग्य होती है तो उसके लिए वरकी खोज होती है। वरके कुल, शील, सम्पत्तिकी चर्चा चलनेपर माता-पिताको कहीं भी यह सन्तोष नहीं होता कि हम अपनी कन्या योग्य वरको दे रहे हैं। उसके बाद भी यदि कन्या दुराचारिणी हुई या उसके सन्तान नहीं हुई, या पतिने उसको त्याग दिया, या पतिका मरण हो गया अथवा वह छोड़कर चला गया तब भी माता- पिताको रात-दिन कष्ट रहता है अतः पुत्रकी तरह पुत्री भी दुःखकी खान है ॥ ११६ ॥

द्विजैश्च काकैद्यदि भुक्तमन्नं मृतान् पितृस्तर्पयते परत्र ।

पुरार्जितं तत्पितृभिर्विनष्टं शुभाशुभं तेन हि कारणेन ॥ - वराहचरित २५। ६४ ।

पिता - माता आदि बन्धु -बान्धव अपकारक हैं अतः वक्रोक्तिके द्वारा उनकी निन्दा करते हैं और पापकर्मोंकी निर्जराका होनेसे शत्रु उपकारक हैं अतः उनका अभिनन्दन करते हैं -

जो तृष्णाकी अविच्छिन्न धाराके अधीन होकर दुःखोंके प्रधान कारण शरीरका बीज है उस पिताका कल्याण हो। जो मिथ्या मोहजालको विस्तारती हुई उसी शरीरके गर्भाधान, पालन, वर्धन आदि उपकरणोंमें प्रयत्नशील रहती है उस माताका भी कल्याण हो। अर्थात् पुनःमुझे माता - पिताकी प्राप्ति न होवे क्योंकि वे ही इस शरीरके मूल कारण हैं और शरीर दुःखोंका प्रधान कारण है। तब बन्धु - बान्धवोंमें तो उक्त दोष नहीं हैं? तो कहता है - ममताके द्वारा मदिराकी तरह मनको हित-अहितकके विचारसे शून्य करके व्याकुल करनेवाले बन्धु - बान्धवोंको तो मैं दूरसे ही हाथ जोड़ता हूँ। इनसे तो मेरे शत्रु ही भले हैं जो अपकार करके मुझे पापोंसे छुटकारा दिलाते हैं ॥ ११७ ॥

विशेषार्थ - यह मुमुक्षुके लिए आत्मतत्त्वकी भावनाका उपदेश है ॥ ११७ ॥

नीच या मूर्ख लोगोंकी मित्रता अधर्मकी ओर ले जाती है अतः उसकी निन्दा करते हैं -

प्रायः लोगोंके ऐसे ही मित्र हुआ करते हैं जो पापकर्ममें सहायक हैं क्योंकि धर्मपुत्र युधिष्ठिरने ऐसे कृष्णासे प्रीति की जो उसकी अन्तःसन्तति अर्थात् आत्माके लिए पापकी प्राप्तिका उपाय बना। और बहिः सन्तति अर्थात् अपने वंशके लिए अग्नि प्रमाणित हुआ क्योंकि उसीके कारण कौरवोंका संहार हुआ ॥ ११८ ॥

आगे कहते हैं कि जो इस लोक सम्बन्धी कार्योंमें सहायक हैं वे मोहको बढ़ानेवाले

होनेसे छोडने योग्य हैं और जो परलोक सम्बन्धी कार्योंमें सहायक हैं, नीचेकी भूमिकामें ही उनका अनुसरण करना चाहिए---

जो निश्छल भावसे सम्पत्तिकी तरह विपत्तिमें भी स्नेह करता है ऐसा भी मित्र इस जन्ममें हेय है - छोडने योग्य है क्योंकि वह मोह उत्पन्न करता है । किन्तु जबतक समस्त परिग्रह छोडनेकी सामर्थ्य नहीं है तब तक परलोकके विषयमें ऐसे मित्रका आश्रय लेना चाहिए जो आत्मा और शरीरके भेदज्ञानरूप विशिष्ट बोधको कराता है ॥ ११९ ॥

विशेषार्थ - कहा भी है - मूर्खके इच्छुक मूनियोंको सर्वरूपसे परिग्रहका त्याग करना चाहिए । यदि उसका छोडना शक्य न हो तो आत्मदर्शी महर्षियोंकी संगति करना चाहिए तथा - सर्वरूपसे परिग्रहको छोडना चाहिए । यदि उसका छोडना शक्य न हो तो सज्जन पुरुषोंकी संगति करना चाहिए । क्योंकि सन्त पुरुष परिग्रहकी औषधि हैं ॥ ११९ ॥

अत्यन्त भक्तियुक्त भी सेवक अकृत्य करनेमें अगुआ हो जाता है अतः वह भी उपादेय नहीं है -

जैसे बाह्यदृष्टि मनुष्य अत्यन्त सम्बद्ध होनेसे शरीरमें यह मैं हूँ ' ऐसी कल्पना करते हैं उसी तरह स्वार्थमें तत्पर मनुष्य अपनेमें अत्यन्त अनुरक्त होनेसे जिसे यह मैं हूँ ' ऐसा मानते हैं, वह भृत्य भी रामचन्द्रके सेवक हनुमान्की तरह हिंसादि कार्योंमें अगुआ हो जाता है । अतः सेवक नामक चेतन परिग्रह भी त्याज्य है ॥ १२० ॥

आगे कहते हैं कि दासी- दासको रखना भी मनकेलिए सन्तापकारक होता है -

जैसे स्त्री भालुसे इतना घनिष्ठ परिचय हो जानेपर भी कि उसका कान पकड लिया जाये, वह कभी भी निश्चिन्तता प्रदान नहीं करती उससे सावधान ही रहना पडता है । उसी

त्याज्य एवाखिलः सडो मुनिभिः - ज्ञानार्णव १३। ८।

तरह अत्यन्त परिचयके कारण सिरचढे जो दासी - दास स्वामीके अनिष्ट करनेमें लगे रहते हैं वे किसके लिए शान्तिदाता हो सकते हैं ॥ १२१ ॥

विशेषार्थ - भृत्यमें और दासी- दासमें अन्तर है । जो काम करनेका वेतन पाता है वह भृत्य है । भृतिका अर्थ है कामका मूल्य ' । और जो पैसा देकर खरीद लिया जाता है वह दास या दासी कहाता है । परिग्रह परिणाम व्रतके अतिचारोंमें वास्तु, खेत आदिके साथ जो दासी-दास दिये हैं वे खरीदे हुए गुलाम ही हैं । पं. आशाधरजीने अपनी टीकामें दासका अर्थ क्रयकीतः कर्मकरः' अर्थात् मूल्य देकर खरीदा गया कर्मचारी किया है । स्व. श्री नाथूरामजी प्रेमीने जैन साहित्य और इतिहास ' के द्वितीय संस्करण, पृ.

५१० आदिमे परिग्रह परिणाम व्रतके दास- दासीपर विस्तारसे प्रकाश डाला है । भगवती आराधनामें ( गा. ११६२ ) सचित्त परिग्रहके दोष बतलाये हैं । उसकी विलयोदया टीकामे सचित्ता पुण गंधा ' का अर्थ दासीदासगोमहिष्यादयः ' किया है । अर्थात् दासी - दासकी भी वही स्थिति थी जो गौभैंस आदिकी है । उन्हें गाय - भैंसकी तरह बाजारोंमें बेचाजाता था । उनसे उत्पन्न सन्तानपर भी मालिकका ही अधिकार रहता था । इस प्रथाका अत्यन्त हृदयद्रावक वर्णन अमेरिकी लेखककी पुस्तक अंकिल टामस् केविन ' में चित्रित है । पढकर रोंगटे खडे हो जाते हैं । कोई अहिंसाका एकदेश व्रती भी मानवके साथ पशु - जैसा व्यवहार कैसे कर सकता है ? अब ते यह प्रथा सभ्य देशोंसे उठ गयी है किन्तु इससे घृणित व्यवहार शायद ही दूसरा रहा हो । पशुओंकी तरह खरीदे गये दास- दासियोंकी परिग्रहमें गणना भी अपत्तिजनक प्रतीत होती है ॥ १२१ ॥

आगे कहते हैं कि शिष्योंपर अनुशासन करनेमें भी कभी - कभी क्रोध उत्पन्न हो आता है -

जिस शिष्यको गुरुजन सुपुत्रकी तरह रात - दिन हितकी शिक्षा देते हैं, वह भी बीचबीचमें चाण्डालकेतुल्य क्रोधका स्पर्श करा देता है ॥ १२२ ॥

विशेषार्थ - शिष्यके शिक्षण देते समय यदि शिष्य नहीं समझता या तदनुसार आचरण नहीं करता तो गुरुको भी क्रोध आता है । इससे आशय यह है कि मुमुक्षुको शिष्योंका भी संग्रह नहीं करना चाहिए ॥ १२२ ॥

आगे चतुष्पद परिग्रहका निषेध करते हैं -

यदि दो पैरवाले मनुष्य आदिक संग बुरा है तो चार पैरवाले हाथी- घोड़ोंको संगका तो कहना ही क्या है । आँवके कारण जिसकी उदराग्नि मन्द पड गयी है उसके लिए यदि

नीम चिरायता आदि कटु औषधि स्वास्थ्यक नहीं हो सकती तो फिर घीकी तो बात ही क्या है ? ॥ १२३ ॥

विशेषार्थ - द्विपदोंके संगसे चौपायोंका संग ज्यादा कष्टदायक होता है ; क्योंकि जब दो पैरवाला कष्टदायक है तो चार पैरवाला तो उससे दूना कष्टदायक होगा । दृष्टान्त दिया है आमरोगीका । जब पेटमें रसका परिपाक ठीक नहीं होता तो उदराग्नि मन्द होती जाती है । कटुक औषधि स्वभावसे ही आँवके लिए पाचक होती है । किन्तु जिस आँवरोगीको कटु औषधि भी अनुकूल नहीं पडती उसके लिए घी कैसे पथ्य हो सकता है ? घी तो चिक्कण और शीतल होनेसे आँवको बढाता है । अतः जब दोपाया ही कष्टकर है तब चौपायेका तो कहना ही क्या ? आगे कहते हैं कि अचेतन परिग्रहसे चेतन परिग्रह अधिक कष्टकर है -

योनि और मुख आदिकी अपेक्षासे होनेवाले सम्बन्धोंके द्वारा गाढरू पसे प्रविष्ट होकर चेतन परिग्रह मनुष्यके मनको जैसा कष्ट देती है वैसा कष्ट अचेतन परिग्रह नहीं देती ॥ १२४ ॥

विशेषार्थ - अचेतन परिग्रहके साथ तो मनुष्यका केवल स्वामित्व सम्बन्ध रहता है किन्तु सहोदर भाई - बहनके साथ यौन सम्बन्ध होता है और गुरु - शिष्य आदिका मौखिक सम्बन्ध होता है। इसी तरह पिता - पुत्रका जन्य - जनक सम्बन्ध होता है, पति - पत्नीका भोग्य - भोक्तृत्व सम्बन्ध होता है। ये सब सम्बन्ध अधिक अनुरागके कारण होनेसे अधिक कष्टदायक भी होते हैं। इसीसे ग्रन्थकारने चेतन परिग्रहके पश्चात् अचेतन परिग्रहका कथन किया है ॥ १२४ ॥

आगे दस श्लोकोंसे अचेतन परिग्रहके दोष बतलानेकी भावनासे प्रथम ही घरके दोष बतलाते हैं क्योंकि घर ही दोषोंका घर है -

जीर्णी भ. कु. च. ।

णेन तु भ. कु. च.

शुनका अर्थ है वधस्थान। घरमें पाँच वधस्थान हैं। अतः पाँच वधस्थानवाले घरसे संसारसे भीरुओंके लिए एकान्त वन श्रेष्ठ है। क्योंकि घरमें तो जो प्राप्त है उसका भी लोप हो जाता है और वनमें जो पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ उस शुद्ध आत्मसत्त्वकी प्राप्ति होती है ॥ १२५ ॥

विशेषार्थ - उखली, चक्की, चूला, जल भरनेका घडा और बुहारी इन पाँचके बिना घरका काम नहीं चलता। जो घरमें रहेगा उसे कूटना, पीसना, आग जलाना, पानी भरना और झाड़ू लगाना अवश्य पडेगा। और ये पाँचों ही जीवहिंसाके स्थान हैं अतः घरको पाँच शूना गृहस्थके हैं। यथा - ओखली, चक्की, चूला, जल भरनेका घट और बुहारू ये पाँच शूना गृहस्थके हैं। इसीसे गृहस्थ दशामें मोक्ष नहीं होता'। अतः घरसे श्रेष्ठ एकान्त वन है। घरमें तो जो कुछ धर्म - कर्म प्राप्त है वह भी छूट जाता है किन्तु वनमें जाकर आत्मध्यान करनेसे शुद्ध आत्माक प्राप्ति होती है ॥ १२५ ॥

जो गृहकार्यमें विशेषरू पसे आसक्त रहते हैं वे निरन्तर दुःखी रहते हैं। अतः उनके प्रति शोक प्रकट करते हैं -

खेद है कि हित - अहितका विवेचन करनेकी शक्तिके न होनेसे शोक और हर्षके भ्रमसे व्याकुल हुआ मूढ मनुष्य घरकी आसक्तिरू पी कीचडमें फँसकर कष्ट उठाता है ॥ १२६ ॥

विशेषार्थ - जैसे कीचडमें फँसा मनुष्य उसमें - से निकलनेमें असमर्थ होकर दुःख उठाता है, उसी तरह घरके पचडोंमें फँसा हुआ मनुष्य भी हित और अहितका विचार करने में असमर्थ होकर दुःख

उठाता है। गृहस्थाश्रममें हर्ष और शोकका या सुख - दुःखका चक्रचला करता है। इस तरह तीसरा पद रति और अरतिके अभावरूप परम उदासीनताको प्राप्त न करके कष्ट उठाता है। ’

वासतवमें सांसारिक सुख तो एक भ्रम मात्र है। संसार और सुख ये दोनों एक तरहसे परस्पर विरोधी हैं। कहा है--‘प्राणियोंका यह सुख और दुःख केवल वासनामात्र है, जैसे आपत्तिकालमें रोग चित्तमें उद्वेग पैदा करनेवाले हैं’ ॥१२६॥

क्षेत्र परिग्रहके दोष बतलाते हैं---

यदि बौद्धदर्शनका नैरात्म्यवाद और चार्वाकका मत मिथ्या नहीं है अर्थात् आत्मा और परलोकका अभाव है तब तो प्राणियोंके लिए क्षेत्र (खेत) इस लोक सम्बन्धी सुख देनेवाला होनेसे कल्याणरूप है। और यदि आत्मा और परलोक हैं तो क्षेत्र नरकादि दुर्गतियोंका मार्ग है, क्योंकि बहुत आरम्भकी परस्पराका कारण है ॥१२७॥

विशेषार्थ--क्षेत्रका अर्थ है खेत, जहाँसे अनाज पैदा होता है। किन्तु सांख्य दर्शनमें क्षेत्रका अर्थ शरीर है और क्षेत्रज्ञका अर्थ होता है आत्मा, जो क्षेत्र अर्थात् शरीरको जानता है। तथा ‘क्षेत्रभृत्’ का अर्थ होता है क्षेत्र अर्थात् शरीरको धारण करनेवाला प्राणी। अतः अक्षेत्रज्ञका अर्थ होता है क्षेत्रज्ञ नहीं अर्थात् आत्माका अभाव या ईषत् क्षेत्रज्ञ। बौद्ध दर्शन नैरात्म्यवादी है। वह आत्माको नहीं मानता और चार्वाक गर्भसे लेकर मरण पयन्त ही मानता है यह बात दृष्टिमें रखकर ग्रन्थकार कहते हैं--यदि ये दोनों मत सच्चे हैं तब तो खेत कल्याणकारी है। उसमें अन्नादि उत्पन्न करके लोग जीवन पर्यन्त जीवन-यापन करेंगे और मरने पर जीवनके साथ सब कुछ समाप्त हो जायेगा। पुण्य और पापका कोई प्रश्न ही नहीं। किन्तु यदि ये दोनों हैं तब तो खेती करनेमें जो छह कायके जीवोंका घात होता है--खेतको जोतने, सीचने, बौने, काटने आदिमें हिंसा होती है उसका फल अवश्य भोगना पड़ेगा। क्योंकि बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह नरकायुके बन्धका कारण है ॥१२७॥

आगे कहते हैं कि कुप्य आदि परिग्रह मनुष्यको उध्दत बनाते हैं और नाना प्रकारकी आशाओंकी परम्पराको जन्म देते हैं--

कुप्य-वस्त्रादि द्रव्य, धान्य, शय्या, आसन, सवारी और भाण्ड-हींग आदिके समूहसे नर्तनपूर्ण क्रिया कलापको अत्यधिक बढ़ानेवाला जो व्यक्ति कुबेर पर भी हँसता है उसे मानसिक विकल्प जालसे उलझी हुई उत्कृष्ट आशा नहीं छोडती ॥१२८॥

विशेषार्थ--जिसके पास उक्त प्रकारकी परिग्रहका अत्यधिक संजय हो जाता है उसका कारभार बहुत बढ जाता है और उसीमें वह रात दिन नाचता फिरता है। उसका अहंकार इतना बढ जाता है कि वह कुबेरको भी तुच्छ मानता है। कुबेर उत्तर दिशाका स्वामी माना जाता है। उत्तर दिशामें कैलास

पर्वतको घेरे हुए मान सरोवर है। इसी प्रकार परिग्रही मनुष्यको भी उत्तराशा-भविष्यकी बडी-बडी आशाएँ नही छोडती, रातदिन उन्हीमें डूबा रहता है ॥१२८॥

आगे कहते हैं कि धनका लोभी महापाप करता है---

धनका लोभी प्राणियोंका घात करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, मैथुन करता है, न खाने योग्य वस्तुओंको भी खाता है, न पीना योग्य मदिरा आदिको पीता है। अतः धनके लोभीको धिक्कार है ॥२९॥

भूमिके लोभी मनुष्यके दुःखदायी और निन्दनीय कार्योंको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं ---

उस प्रसिद्ध लोकोत्तर साम्राज्य लक्ष्मीको भोगते हुए भी भरत चक्रवर्तीने भूमिके एक छोटेसे भाग सुरम्यदेशको लेना चाहा तो उस देशके स्वामी अपने ही छोटे भाई बाहुबलिसे युद्धमें पराजित हुआ और सज्जनोंने उसे भरतका दुरभिनवेश कहा ॥१३०॥

विशेषार्थ--प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेवके एक सौ पुत्रोंमें चक्रवर्ती भरत सबसे बडे थे और बाहुबली उनसे छोटे थे। भगवान् जब प्रव्रजित हो गये तो भरत अयोध्याके स्वामी बने और फिर भरतके छह खण्डोंको जीतकर चक्रवर्ती बने। जब वह दिग्विजय करके अयोध्यामें प्रवेश करने लगे तो चक्रवर्त्न रुक गया। निमित्तज्ञानियोंने बताया कि अभी आपके भाई आपका स्वामित्व स्वीकार नहीं करते इसीसे चक्रवर्त्न रुक गया है। तुरन्त सबके पास दूत भेजे गये। अन्य भाई तो अपने पिता भगवान् ऋषभदेवके पादमूलमें जाकर साधु बन गये। किन्तु बाहुबलिने युद्धका आह्वान किया। विचारशील बडे पुरुषोंने परस्परमें

अथ दैन्यभाषणनिर्घृणत्वकृपणत्वानवस्थित्तत्त्वदोषावहत्वेन धनानि जुगुप्सते ---

श्रीमैरेयजुषां पुरश्,टुपटुर्देहीति ही भाषते,

देहीत्युक्तिहतेषु मुञ्चति हहा नास्तीति वाग्घादिनीम् ।

तीर्थेऽपि व्ययमात्मनो वधमभिप्रैतीति कर्तव्यता

चिन्तां चाघ्नयते यदभ्यमितधीस्तेभ्यो नमः ॥१३१॥

मैरेयं --- मद्यम् । हताः--- नाशिताः । यल्लोकः---

गतेर्भङ्गः स्वरो दीनो गात्रे स्वेदो विवर्णता ।

मरणे यानि चिह्नानि तानि सर्वाणि याचने" [ ]

ह्लादिनी--- वज्रम् । तीर्थे --- धर्म कार्ये च समवायिनि । व्ययं ---- द्रव्यविनियोगम् । अन्वयते ---

अविच्छिन्नं याति। यदभ्यामितधी :--- यैरातुरबुद्धिः। नमः --- तानि धनानि धिगित्यर्थः ॥१३१॥

परामर्श किया कि भगवान्की वाणीके अनुसार दोनों भाई मोक्षगामी है, ये किसीसे मरनेवाले नहीं है अतः इन्हीं दोनोंके युद्धमें हार- जीतका फैसला हो, व्यर्थसेनाका संहार क्यों किया जाये। फलतः दोनों भाइयोंमें जलयुद्ध, मल्लयुद्ध और दृष्टियुद्ध हुआ और तीनों युद्धोंमें चक्रवर्ती हार गये। फलतः उन्होंने रोषमें आकर अपने सहोदर छोटे भाईपर चक्रसे प्रहार किया। किन्तु मुक्तिगामी बाहुबलीका

कुछ भी अनिष्ट नहीं हुआ। सबने चक्रवर्तीको ही दुरभिवेशी कहते हैं। सम्राट भरत भूमिके लोभमें पडकर नीतिमार्गको भी भूल गये अतः भूमिका लोभ भी निन्दनीय है ॥१३०॥

धन मनुष्यमें दीनवचन, निर्दशता, कृपणता, अस्थिरचित्तता आदि दोषोंको उत्पन्न करता है अतः धनकी निन्दा करते हैं ---

जिस धनरूपी रोगसे ग्रस्त मनुष्य लक्ष्मीरूप मदिराको पीकर मदोन्मत्त हुए धनिकोंके सामने खुशामद करनेमें चतुर बनकर, खेद है कि, 'कुछ दो' ऐसा कहता है। 'कुछ दो' ऐसा कहनेसे ही बेचारा माँगनेवाला मृततुल्य हो जाता है। फिर भी धनका लोभी मनुष्य नहीं है' इस प्रकारके वचनरूपी वज्रका प्रहार उसपर करतर है। यह कितने कष्टकी बात है। जिस धनरूपी रोगसे ग्रस्त मनुष्य तीर्थमें भी किये धनव्ययको अपना वध मानता है मानो उसके प्राण ही निकल गये। तथा जिस धनरूपी रोगसे ग्रस्त मनुष्य रात-दिन यह चिन्ता करता है कि मुझे यह ऐसे करना चाहिए और यह ऐसे करना चाहिए। उस धनको दूरसे ही नमस्कार है ॥१३१॥

विशेषार्थ --- धनको लोभसे मनुष्य बनकर धनिकोंके सामने हाथ पसारता है। उस समय उसकी दशा अत्यन्त दयनीय होती है। किसीने कहा है --- उसके पैर डगमगा जाते हैं, स्वरमें दीनता आ जाती है, शरीरसे पसीना छूटने लगता है और अत्यन्त भयभीत हो उठता है। इस तरह मरणके समय जो चिह्न होते हैं वे सब माँगते समय होते हैं" फिर भी धनका लोभी माँगनेवालेको दुत्कार देता है। अधिक क्या, धर्मतीर्थमें दिये गये दानसे भी उसे इतना कष्ट होता है मानो उसके प्राण निकाल गये। अपने कर्मचारियोंको वेतन देते हुए भी उसके प्राण सूखते हैं। ऐसा निन्दनीय है यह धन ॥१३१॥  
गात्रस्वेदो महभ्ययम् --- भु.कु. च.।

अथ धनास्यार्जनरक्षणादिना तीव्रदुःखकरत्वात्तत्प्रत्युद्यमं कृतिनां निराकुरुते ---

यत्पृक्तं कथमप्युपार्ज्य विधुराद्रक्षन्नरस्त्याजितः,

खे पक्षीव पलं तदर्थिभिरलं दुःखायते मृत्युवत् ।

तल्लाभे गुणपुण्डरीकमिहावस्कन्दलोभोभ्यव---

प्रागल्भीपरमाणुतोलितजगत्युत्तिष्ठते कः सुधीः ॥१३२॥

पृक्तं-- धनम् । मिहिकावस्कन्दः--- तुषारप्रपातः। प्रागल्भी --- निरक्डु.शप्रवृत्तिः। उत्तिष्ठते--- उद्यमं करोति ॥१३२॥

अथ बहिरात्मनां धनार्जनभोजनोन्मादप्रवृत्तं निःशकडपापकरणं स्वेच्छं मैथुनाचरणं दूषयन्नाह ---



धनका कमाना और रक्षण करना तीव्र दुःखकारक है अतः उसकी प्राप्तिके लिए उद्यम करनेका निषेध करता है ---

जैसे पक्षी आकाशमें किसी भी तरहसे प्राप्त मांसके टुकड़ेकी रक्षा करता है और अन्य पक्षियोंके द्वारा उसके छीन लिये जानेपर बड़ा दुखी होता है, उसी तरह जो धन की भी तरह बड़े कष्टसे उपार्जित करके सैकड़ों विनाशोंसे बचाया जानेपर भी यदि धनको इच्छुक अन्य व्यक्तियोंके द्वारा छुड़ा लिया जाता है तो मरणकी तरह अति दुःखकारक होता है । और उस धनका लाभ होनेपर लोथ कषायका उदय होता है जो सम्यग्दर्शन आदि गुणरूपी श्वेत कमलोंके लिए तुषारपातके समान है । जैसे तुषारपातसे कमल मुरझा जाते हैं वैसे ही लोभ कषायके उदयमें सम्यग्दर्शनादि गुण नष्ट हो जाते हैं, म्लान हो जाते हैं । तथा उस लोथ कषायकी निरंकुश प्रवृत्तिसे मनुष्य इस जगत् को परमाणुके तुल्य समझने लगता है लेकिन उससे भी उसकी तृष्णा नहीं बुझती । ऐसे धनकी प्राप्तिके लिए कौन बुद्धिशाली विवेकी मनुष्य उद्यम करता है, अर्थात् नहीं करता ॥१३२॥

विशेषार्थ --- धनको बिना जगत् में काम नहीं चलता यह ठीक है । किन्तु इस धनकी तृष्णाके चक्रमें पडकर मनुष्य धर्म- कर्म भी भुला बैठता है । फिर वह धनका ही क्रीत दास हो जाता है । और आवश्यकता नहीं होनेपर भी धनको संचयमें लगा रहता है । ज्यों- ज्यों धन प्राप्त होता है त्यों- त्यों लोभ बढ़ता जाता है । जैसे अग्नि कभी ईधनसे तृप्त नहीं होती वैसे ही तृष्णा भी धनसे कम नहीं होती, बल्कि और बढ़ती है । कहा भी है --- आशाका गडढा कौन भर सकता । उसमें प्रतिदिन जो डाला जाता है वह आधेय आधार बनता जाता है<sup>६</sup> और भी --- प्रत्येक प्राणिमें आशाका इतना बड़ा गडढा है कि उसे भरनेके लिए यह जगत् परमाणुके तुल्य है । अतः धनकी आशापर अकुंश लगाना चाहिए ॥१३२॥

बाह्यदृष्टि मनुष्य धनको अर्जन और भोजनके उन्मादसे पडकर निर्भय होकर पाप करते हैं और स्वच्छन्तापूर्वक मैथुन सेवन करते हैं अतः उनकी निन्दा करते हैं ---

धनादन्नं तस्मादसव इति देहात्ममतयो,  
मनुं मन्यां लब्धुं धनमघमशकडा विदधते ।  
वृषस्यान्ति स्त्रीरप्यदयमशनोभिदन्नमदना,  
धनस्त्रीरागो वा ज्वलयति कुजानप्यमनसः ॥१३३॥

देहात्ममतयः--- देहे आत्मोति मतिर्येषाम् । मनुमन्याः--- लोकव्यवहारोपदेष्टारमात्मानं मन्यमानां  
:। वृषस्यन्ति --- कामयन्ते । ज्वलयति--- धनसीकारे नारीप्रवीचारे च संरम्भयति । यन्नीतिः---  
'अर्थेषूपभोग--- रहितास्तरवाऽपि साभिलाषां' इति । दृश्यन्ते च मूलोपान्ते निखातं जटाभिर्वेष्टयन्तः  
प्रराहैश्चोपसर्पन्तो वृक्षाः। सुप्रसिद्ध एव वाऽशोकादीनां कामिनीविलासाभिलाषः । तथा च पठन्ति ---

‘सनूपुरालत्ककपादताडितो द्रुमोऽपि यासां विकसत्यचेतनः।

तदद्भ्यंस्पर्शरसद्रवीकृतो विलीयते यन्न नरस्तदद्भुतम् ॥’

आपि च ---

यासां सीमन्तिनीनां कुरुवकतिलकाशोकमाकन्दवृक्षाः

प्राप्योच्चैर्विक्रियन्ते ललितभुजलतालिङ्गा.नादीन् विलासान् ।

तासां पुर्णन्दुगौरं मुखकमलमलं वीक्ष्य लीलालसाढ्यं

को योगी यस्तदानीं कलयति कुशलो मानसं निर्विकारम्" [ ] ॥१३३ ॥

अथ गृहामिदमूर्च्छया तद्रक्षणाद्युपचितस्य पातकस्यातिदुर्जरत्वं व्याहरति ---

धनसे अन्न होता है और अन्नसे प्राण’ इस प्रकारके लोकव्यवहारके उपदेष्टा, अपने शरीरको ही आत्मा माननेवाले अपनेको मनु मानकर धन प्राप्त करनेके लिए निर्भय होकर पाप करते हैं । और पौष्टिक आहारसे जब काम सताता है तब निर्दयतापमर्वक स्त्री- भोग करते हैं । ठीक ही है --- धन और स्त्रीका राग मनरहित वृक्षोंको भी धन और नारीके सेवनमें प्रवृत्त करता है, मनसहित मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ॥१३३॥

विशेषार्थ --- संसारमें स्त्री और धनका राग बड़ा प्रबल है । स्त्रीके त्यागी भी धनको रागसे नहीं बच पाते । फिर जो मूढ बुद्धि हैं लोक - व्यवहारमें अपनेको दक्ष मानकर सबको यह उपदेश देते हैं कि अन्नके बिना प्राण नहीं रह सकते और धनके बिना अन्न नहीं मिलता, वे तो धन कमानेमें ही लगे रहते हैं और पुण्य- पापका विचार नहीं करते । धन कमाकर पौष्टिक भोजन स्वये भी करते हैं और संसार- त्यागियोंको भी कराते हैं । पौष्टिक भोजन और विकार न करे यह कैसे सम्भव है । विकार होनेपर स्त्री सेवन करते हैं । ग्रन्थकार कहते हैं कि धन और स्त्रीका राग मन रहित वृक्षोंको भी नहीं छोड़ता फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है । नीतिवाक्यामृतमें कहा है --- अर्थेषूपभोगरहितास्तरवोऽपि साभिलाषाः किं पुनर्मनुष्याः । धनका उपभोग न कर सकनेवाले वृक्ष भी धनकी इच्छा करते हैं फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है । यदि भूमिमें धन गड़ा हो तो वृक्षकी जड़े उस ओर ही जाती हैं । स्त्रियोंके पैर मारने आदिसे वृक्ष खिल उठते हैं ऐसी प्रसिद्धि है । अतः धनके रागसे बचना चाहिये ॥१३३॥

आगे कहते हैं कि गृह आदिमें ममत्व भावरूप मूर्च्छाके निमित्तसे आगत और उनके रक्षण आदिसे संचित पापकर्मकी निर्जरा बड़ी कठिनतासे होती है ---

तद्गोहाद्युपधौ ममेदमिति संकल्पेन रक्षार्जना---

संस्कारदिदुरीहितव्यतिकरे हिंसादिषु व्यासजन् ।

दुःखोद्गारभरेषु रागविधुरप्रज्ञः किमप्याहर ---

त्यंहो यत्प्रखरेऽपि जन्मदहने कर्ष्ट चिराज्जीर्यति ॥१३४॥

उपाधि:--- परिग्रहः। प्रखरे--- सुतीक्ष्णे ॥१३४॥

अथानाविद्यानिबन्धनं चेतनपदार्थेषु रागव्देषप्रबन्धं विदधानस्य  
कर्मबन्धक्रियासमभिव्यक्तिरमनाभिनन्दन्नाह ---

आसंसारमविद्यया चलसुखाभासानुबध्दाशया,

नित्यानन्दसुधामयस्वसमयस्पर्शच्छिदभ्याया ।

इष्टानिष्टविकल्पजालजटिलेष्वर्थेषु विस्फारितः ।

क्रमन् रत्यरती मुहूर्महुरहो बाबध्यते कर्मभिः ॥१३५॥

स्वयसमयः--- शुद्धचिद्रपोपलम्भः। अभ्यासः--- सामीप्यम् । विस्फारितः--- प्रयत्नावेशमापादितः।  
बाबध्यते --- भृशं पुनः पूनर्वा बध्यते । तथा चोक्तम् ---

‘कदाचित्को बन्धः क्रोधादेः कर्मणः सदा सद्भात् ।

नातः क्वापि कदाचित्परिग्रहग्रहवतां सिद्धिः" [ ] ॥१३५॥

तत्तदविभ्रिरप्यकाले मोहो दुर्जय इति च चिन्तयति ---

गृहस्थ घर आदिकी तृष्णासे व्याकुल होकर घर- खेत आदि परिग्रहमें ‘ये मेरा है’ इस प्रकारके संकल्पसे उनके रक्षण, अर्जन, संस्काररूप दुश्चेष्टाओंके जमघटमें पडकर अत्यन्त दुःखदायी हिंसा आदिमें विविध प्रकारसे आसक्त होता है और उससे ऐसे न कह सकने योग्य पापका बन्ध करता है जो संसाररूपर तीव्र बग्निमें भी लम्बे समयके बाद बडे कष्टसे निर्जराको प्राप्त होता है । अर्थात् गृह आदि परिग्रहमें ममत्वभाव होनेसे गृहस्थ उनकी रक्षा करता है, नये मकान बनवाता हैय पुरानोंकी मरम्मत कराता है और उसीके संकल्प- विकल्पोंमें पडा रहता है। उसके लिए उसे मुकदममेबाजी भी करनी पडती है, उसमें मार- पीट भी हाती है । इन सब कार्यों में जो पापबन्ध होता है वह घोर नरक आदिके दुःखोके भोगनेपर ही छूटता है ॥१३४॥

अनादिकालीन अविद्याके कारण चेतन और अचेतन पदार्थोंमें मनुष्य रागव्देष किया करते हैं और उससे कर्मबन्धकी प्रक्रिया चलती है अतः उपपर खेद प्रकट करते हैं ---

जबसे संसार है तभीसे जीवके साथ अज्ञान लगा हुआ है --- उसका ज्ञान विपरीत है, उसे ही अविद्या कहते हैं । उस अविद्याके ही कारण यह जीव क्षणिक तथा सुखकी तरह प्रतीत होनेवाले असुखको ही

सुख मानकर उसीकी तृष्णामें फँसा हुआ है । मथा उस अविद्याका सम्पर्क भी नित्य आनन्दरूपी अमृतये परिपूर्ण शुद्ध चिद्रपकी उपलब्धिके किंचित् स्पर्शका भी घातक है । उसी अविद्याके वशीभूत होकर यह जीव यह हमें प्रिय है और हमें अप्रिय है इस प्रकारके इष्ट और अनिष्ट मानसिक विकल्पोंके समूहसे जटिल पदार्थोंमें इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टसे बचनेके लिए प्रयत्नशील होता हुआ बारम्बार राग- द्वेष करता है और उससे बातम्बार कर्मोंसे बँधता है ॥१३५॥

आगें विचार करते हैं कि मोहकर्मको असयममें जीतना तत्त्वज्ञानियोंके लिए भी कष्ट- साध्य है ---

महतामप्यहो मोहग्रहः कोऽप्यनवग्रहः ।

ग्राहयत्यस्वमस्वांश्च योऽहंमविधया हठात् ॥१३६॥

अनवग्रहः--- स्वच्छन्दो दुर्निवार इत्यर्थः, चिरावेशो वा अस्वं --- अनात्मभूतं देहादिकमात्मबुद्धया, अस्वांश्च --- अनात्मीयभूतान् दारागृहादीन् मम् बुद्धयेति संबन्धः ॥१३६॥

अथापकुर्वतोऽपि चारित्रमोहस्योच्छेदाय काललब्धावेवे विदुषा यतितव्यमित्यनुशास्ति ---

दुःखानुबन्धैकपरानरातीन्, समूलमुन्मूल्य परं प्रतप्स्यन् ।

को वा विना कालमरेः प्रहन्तुं, धीरो व्यवस्यत्यपराध्यतोऽपि ॥१३७॥

अरातीन् --- मिथ्यात्वादीन् चोरचरटादीश्च । प्रतप्स्यन् --- प्रतप्तुमिच्छन् । अरेः--- चारित्रमोहस्य प्रतिनायकस्य च । धीरः--- विद्वान् स्थिरप्रकृतिश्च ॥१३७॥

आश्चर्य है कि गृहस्थ अवस्थामें तीर्थकर आदिकें भी यह चारित्रमोहनीयरूप ग्रह इतना दुर्निवार होता है जिसे कहना शक्य नहीं है; क्योंकि यह जो अपने रूप नहीं है उन शरीर आदिमें यह मैं हूँ' ऐसी बुद्धि और जो अपने नहीं हैं पर हैं, उन स्त्री- पुत्रादिमें ये मेरे हैं ' ऐसी बुद्धि बलपूर्वक उत्पन्न कराता है । अर्थात् यद्यपि वे तत्त्वको जानते हैं तथापि चारित्रमोहनीयके वशीभूत होकर अन्यथा व्यवहार करते हैं ॥१३६॥

आगे यह शिक्षा देते हैं कि यद्यपि चारित्रमोहनीय अपकारी है फिर भी विद्वान्को काललब्धि आनेपर ही उसके उच्छेदका प्रयत्न करना चाहिए ---

केवल दुःखोंको ही देनेमें तत्पर मिथ्यात्व आदि शत्रुओंकोएँ सँमूल उन्मूलन करके अर्थात् संवरके साथ होनेवाली निर्जरा करके उत्कृष्ट तप करनेका इच्छुक कौन विद्वान् होगा जो कालके बिना अपकार करनेवाले भी चारित्रमोहनीयका नाश करनेके लिए उत्साहित होगा ॥१३७॥

विशेषार्थ :--- लोकमें भी देखा जाता है कि स्थिर प्रकृतिवाला धीर नायक जबतक योग्य समय न प्राप्त हो अपने अपकार कर्ताके साथ भी सद्व्यवहार करना चाहिए' इस नीतिको मनमें धारण करके यद्यपि नित्य कष्ट देनेवाले चोर, वटमार आदिको निर्वश करके प्रतापशाली होना चाहता है फिर भी अपराधी भी शत्रुको समयपर ही मारनेका निश्चय करता है। इसी तरह यद्यपि चारित्रमोह अपकारकारी है किन्तु पूरी तैयारीके साथ उचित समयपर ही उसके विध्वंसके लिए तत्पर होना चाहिए। उचित समयसे आशय यह है कि न तो समयका बहाना लेकर उससे विरत होना चाहिए और न पूरी तैयारीके बिना जल्दबाजीमें ही किसी आवेशमें आकर ब्रतादि धारण करना चाहिए। जैसे वर्तमान काल मुनिधर्मकी निर्मल प्रवृत्तिके लिए अनुकूल नहीं है। श्रावकोका खान- पान बिगड चुका है। अब रावक मुनिके पघारनेपर उसीके उद्देश्यसे भोजन बनाते हैं। मुनि एक स्थानपर रह नहीं सकते। विहार करते हैं तो मार्गमें आहारकी समस्या रहती है उसके लिए मुनिकों स्वयं प्रयत्न भी करना पड जाता है। और इन तरह परिवारसे भी अधिक उपधि पीछे लग जाती है। अतः इस कालमें नुनिव्रत तभी लेना चाहिए जब परिग्रहके अम्बारसे बचकर साधुमार्ग पालना शक्य हो ॥१३७॥

अथ श्रियमुपार्ज्य सत्पात्रेषु विनियुज्जानस्य सद्ग्रहिणस्तत्परित्याग मोक्षपथैकप्रस्थायित्वमभिष्टौति

---

पुण्याद्धेर्मथनात्कथंकथमपि प्राप्य श्रियं निर्विशन्,

वै कुण्डो यदि दानवासनविधौ शण्डोऽस्मि तत्सद्विधौ ।

इत्यथैरुपगृहता शिवपथे पान्थान्यथास्वं स्फुर ---

तादृग्वीर्यबलेन येन स परं गम्येत नम्येत सः ॥१३८॥

मथनात् --- उदयप्रापणाद्विलोडनाच्च । निर्विशन् --- अनुभवन् । वै कुण्डः --- वै स्फुटं कुण्डो मन्दो । दानवसानविधौ --- दानेनात्मनः संस्कारविधाने । उक्तिलेशपक्षे तु दानं वन्ति गच्छन्ताति दानवास्त्यागशीला- स्तेषामसुराणां वासनविधौ निराकरणे वैकुण्डो विष्णुरिति व्याख्येनम् । शण्डः--- यत्नपरिभ्रष्टः। यद्विधौ--- साध्वाचरणे । उपगृहता--- उपकुर्वता । सः--- शिवपथः । नम्येत --- नमस्क्रियेत श्रेयोर्थिभिरिति शेषः ॥१३८॥

अथ गृहं परित्यज्य तपस्यतो निर्विघ्नां मोक्षपथप्रवृत्ति कथयति ---

प्रजाग्रद्वैराग्यः समयबलवल्गात्स्वसमयः,

सहिष्णु सर्वोर्मीनपि सदसदर्थस्पृशि दृशि ।

गृहं पापप्रायक्रियामिति तदुत्सृज्य मुदित ---

स्तपस्यन्निशल्यः शिवपथमजस्त्रं विहरीतं॥१३९॥

समयबलं --- श्रुतज्ञानसामर्थ्यं काललब्धिश्च । सहिष्णुः--- साधुत्वेन सहमानः। सर्वोर्मीन् --- निशेष-  
परिषहान् । अपि सदसदर्थस्पृशि --- प्रशस्ताप्रशस्तवस्तुपरामर्शिन्यामपि । दशि --- अन्तर्दृष्टौ सत्याम् ।  
निःशल्यः--- मिथ्यात्वानिदानमायालक्षणशल्यत्रयनिष्क्रान्तः ॥१३९॥

जो सद्गृहस्थ लक्ष्मी कमाकर सत्पात्रोंमें उसे खर्च करता है और फिर उसे त्याग कर मोक्षमार्ग  
लगता है उसकी प्रशंसा करते हैं ---

पुण्यरूपी समुद्रका मन्थन करके कीनी न किसी प्रकार महान् कष्टसे लक्ष्मीको प्राप्त करके मैं  
उसको भोगता हूँ । यदि मैं दानके द्वारा आत्माका संस्कार करनेमें मन्द रहता हूँ तो स्पष्ट ही सम्यक्  
चारित्रका पालन करनेमें भी मैं प्रयत्नशील नहीं रह सकूँगा' ऐसा विचारकर जो मोक्षमार्गमें नित्य गमन  
करनेवाले साधुओंका यथायोग्य द्रव्यके द्वारा उपकार करता है तथा मोक्षमार्गमें योग्य शक्ति और बलके  
साथ स्वयं मोक्षमार्गको अपनाता है उसे कल्याणार्थी जीव नमस्कार करते हैं ॥१३८॥

आगे कहते हैं जो घर त्याग कर तपस्या करता है उसीकी मोक्षमार्गमें निर्विघ्न प्रवृत्ति होती है ---

लाभ आदिकी कामनाके बिना जिसका वैराग्य जाग्रत् है, तथा काललब्धि और श्रुतज्ञानके  
सामर्थ्यसे स्वरूपकी उपलब्धिका विकास हुआ है, समस्त परीषहोंको शान्तभावसे सहन करनेमें समर्थ है,  
वह गृहस्थ अच्छे और बुरे पदार्थोंकेविवेक करनेमें भी कुशल अन्तर्दृष्टिकेहोनेपर घरमें होनेवाली क्रियाएँ  
प्रायः पापबहुल होती हैं ' इस विचारसे घरको त्याग कर माया, मिथ्यात्व और निदानरूप तीन शल्योसँ  
रहित होकर प्रसन्नताके साथ तपस्या करता हुआ, बिना थके निरन्तर रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गकी आराधना  
करता है ॥१३९॥

विशेषार्थ--- गृहका त्याग किये बिना मोक्षमार्गकी निरन्तर आराधना सम्भव नहीं है । इसलिए घर  
छोडना तो मुमुक्षुकेलिए आवश्यक ही है । किन्तु घर छोडकर साधु बननेसे पहले उसकी तैयारी उससे भी  
अधिक आवश्यक है । वह तैयारी है संसार, शरीर और

भोगोंसे आन्तरिक विरक्तिक, वह विरक्ति किसी लौकिक लाभसे प्रेरित या श्मशान सवैराग्य जैसी क्षणिक  
नहीं होनी चाहिए । साथ ही सात तत्त्वोंकेसम्यक्परिज्ञानपूर्वक आत्मतत्त्वकी उपलब्धिरूप सम्यग्दृष्टि प्राप्त  
होनी चाहिए, बिना आत्मज्ञानके घर छोडकर मुनि बनना उचित नहीं हैं । अन्तर्दृष्टि इतनी प्रबुध्द होनी  
चाहिए कि आत्महित या अहित करनेवाले पदार्थोंको तत्काल परखकर हितमें लग सके और अहितसे बच  
सके । तब घर छोडे । कमानेया घरेलू परेशानियोंके कारण घर न छोडे । एक मात्र पापके भयसे घर छोडे  
और छोडकर पछताये नहीं । तथा साधुमार्गके कष्टोंको सहन करनेमें समर्थ होना चाहिए और मायाचार

मिथ्यात्व और आगामी भोगोंकी भावना नहीं होनी चाहिए । तभी मोक्षमागाकी आराधना हो सकती है

॥१३९॥

आगे कहते हैं कि बाह्य परिग्रहमें शरीर सबसे अधिक हेय है---

‘जिस शरीरमें धर्मके साधक जीवका निवास है उस शरीरकी रक्षा बड़े आदरके साथ करनी चाहिए’ इस प्रकारकी शिक्षा जिनागमका ऊपरी छिलका है । ‘और देह त्यागने ही योग्य है’ यह शिक्षा जिनागमका चावल है ॥१४०॥

विशेषार्थ--‘शरीर धर्मका मुख्य साधना है’ यह प्रसिद्ध लोकोक्ति है । इसी आधारपर धर्मसंयुक्त शरीरकी रक्षा करनी चाहिए, यह कथन बालका, वृद्ध, रोगी और थके हुए मनुष्योंकी दृष्टिसे किया गया है’, क्योंकि बालपन और वृद्धपनका आधार शरीर है । उसके विषयमें प्रवचनसारके चारित्र अधिकारकी ३१वीं गाथाकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रने उत्सर्ग और अपवादको बतलाते हुए कहा है कि देश-कालका ज्ञाता उत्सर्गमार्गी मुनि बालपन, वृद्धपन, रोग और थकानके कारण आहार-विहारमें मृदु आचरण करनेसे भी थोडा पापबन्ध तो होता ही है इस भयसे अत्यन्त कठोर आचरण करके शरीरको नष्ट कर बैठता है और मरकर स्वर्गमें पैदा होकर संयमसे दूर हो जाता है और इस तरह महान् बन्ध करता है । अतः अपवाद निरपेक्ष उत्सर्ग कल्याणकारी नहीं है । इसके विपरीत बालपन, वृद्धपन, रोग और थकानके कारण अल्प पापबन्धकी परवाह न करके यथेच्छ प्रवृत्ति करनेपर संयमकी विराधना करके असंयमी जनके समान होकर महान् पापबन्ध करता है । अतः उत्सर्ग निरपेक्ष अपवाद भी कल्याणकारी नहीं है । अतः शरीरकी रक्षाका आग्रह इष्टसिद्धिमें उपयोगी नहीं है इसीलिए उसे जिनागमरूपी तन्दुलका ऊपरी छिलका कहा है । असली तन्दुल है ‘शरीर छोडने ही योग्य है’ यह उपदेश । क्योंकि जो वस्तु बाह्यरूपसे शरीरसे बिलकुल भिन्न है उसके छोडनेके लिए कहा अवश्य जाता है किन्तु वह तो छूटी हुई है ही । असली बाह्य परिग्रह तो शरीर ही है । उससे भी जो ममत्व नहीं करता वही परमनिर्ग्रन्थ है । कहा भी है--‘शरीर ही

बाह्य परिग्रह है और इन्द्रियोंकी विषयाभिलाषा अन्तरंगपरिग्रह है । उनको त्यागनेपर ही क्षपक परमार्थसे निर्ग्रन्थ होता है’ ॥१४०॥

आगे साधुको शरीरको कष्ट देनेक गुण और उसके लालन-पालनके दोष बतलाते हैं---

हे साधु ! रत्नत्रयमें उपयोग लगानेके लिए शरीरकी संयमको अनुकूल रक्षा करते हुए भी तुम्हें ममत्वभावको दूर करनेके लिए अपने बल और वीर्यको न छिपाकर शास्त्रोक्त विधानके अनुसार शरीरका दमन करना चाहिए । यदि तुम ऐसा नहीं करोगे तो इन्द्रिय सुख और जीवनकी आशारूपी छिद्रोंको पाकर तृष्णारूपी नदी समीचीत तपरूपी पर्वतको चूर्ण कर डालेगी ॥१४१॥

विशेषार्थ--यद्यपि रत्नत्रयकी साधनाके लिए शरीर रक्षणीय है किन्तु ऐसा रक्षणीय नहीं है कि संयमका वह घातक हो जाये। अपनी शक्ति और साहसके अनुसार उसका दमन भी करना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया गया तो मुनिका यह शरीर प्रेम धीरे-धीरे विषयोंकी और जीवनकी आशाको बल प्रदान करेगा। उससे बल पाकर तृष्णाकी नदी तपरूपी पर्वतको फोडकर निकल पड़ेगी और तपका फल संवर और निर्जरा समाप्त हो जायेगा ॥१४१॥

आगे शिक्षा देते हैं कि परिग्रह त्यागरूप व्रतको धारण करके भी शरीरसे स्नेह करनेसे साधुके माहात्म्यकी हानि होती है--

सकल परिग्रहके त्यागरूप नैर्ग्रन्थ्यव्रतको स्वीकार करके भी शरीरसे स्नेह करनेवाला साधु असह्य परीषहके दुःखसे डरकर जीवन और धनकी अत्यन्त लानसासे दूसरे भरणके तुल्य माँगनेकी दीनताको स्वीकार करता है। और लज्जा देवीका तिरस्कार करके अपना

अथ महासत्त्वस्य धर्मवीररसिकतया तत्सहायकाय पालनाय यथोक्तां भिक्षां प्रतिज्ञाय प्रमाद्यतः पर्यनुयोगार्थमाह--

प्राचीं मार्ष्टु मिवापराधरचनां दृष्ट्वा स्वकार्ये वपुः,  
सधीचीनमदोऽनुरोद्धुमधुना भिक्षां जिनोपक्रमम्<sup>१</sup>  
आश्रौषीर्यदि धर्मवीररसिकः साधो नियोगाद् गुरो-  
स्तत्तच्छिद्रचरौ न किं विनयसे रागापरागग्रहौ<sup>१</sup> १४३

प्राचीं --पूर्वकृतार्थं मार्ष्टु--निराकर्तुम्<sup>१</sup> सधीचीनंऽसहायम्<sup>१</sup> अनुरोद्धुं - स्वकार्ये सहकारि यथा स्यात्तथा कर्तुम्<sup>१</sup> जिनोपक्रमंऽतीर्थकरणे प्रथममारब्धम्<sup>१</sup> आश्रौषीः-- प्रतिज्ञातवांस्त्वम्<sup>१</sup> नियोगात्-- आज्ञानुरोधात्<sup>१</sup> तच्छिद्रचरौ -- इदमनेन सुन्दरसुन्दरं वा भोजनं दत्तमिति भिक्षाद्वारायातौ रागद्वेषौ<sup>१</sup> ग्रहपक्षे तु छिद्रं प्रमादाचरणम्<sup>१</sup> विनयसे-- शमयसि<sup>१</sup> घर्तृस्थे कर्मण्यमूर्तोऽङ्ग इति आत्मनेपदम्<sup>१</sup> १४३

महत्व खो देता है तथा जगत्में पूज्य वाणीको धनीरूपी चाण्डालके सम्पर्कसे अस्पृश्य बना देता है<sup>१</sup> अर्थात् शरीरसे मोह करनेवाला परिग्रहत्यागी भी साधु परीषहके कष्टोंसे डरकर धनिकोंसे याचना करने लगता है<sup>१</sup> और इस तरह अपनी मान-मर्यादा नष्ट कर देता है<sup>१</sup> १४३

जो महासत्त्व धर्मके विषयमें प्रशस्त वीररससे युक्त होनेके कारण धर्ममें सहायक शरीरका रक्षण करनेके लिए शास्त्रोक्त भिक्षाकी प्रतिज्ञा लेकर प्रमाद करता है, उससे पूछते हैं ---

हे साधु ! पूर्व गृहस्थ अवस्थामें किये गये पापोंको मानो धोनेके लिए तुमने यह रत्नत्रयकी साधना स्वीकार की है और तुम्हें यह निश्चय हो गया है कि इस कसर्त्यमें शरीर सहायक है<sup>१</sup> तुम धर्मवीररसिक हो



अर्थात् धर्मके विषयमें तुम्हारा वीररस अभिनन्दनीय है<sup>६</sup> ऐसे समयमें इस शरीरको अपना कार्य करनेमें समर्थ बनानेके लिए यदि तुमने दीक्षा देनेवाले गुरुकी आज्ञासे भगवान् ऋषभदेव तीर्थकरके द्वारा प्रारम्भ की गयी भिक्षा ग्रहण करनेकी प्रतिज्ञा की थी तो उस भिक्षासे होनेवाले राग-द्वेषरूपी भूतोंको, अभुक्ने मुझे सुन्दर भोजन दिया और अभुक्ने मुझे बुरा भोजन दिया--क्यों नहीं शान्त करते हो<sup>६</sup> १४३

विशेषार्थ--साधुको धर्मवीररसिक कहनेसे ग्रन्थकारने द्रव्यसे अप्रमत्तसंयत कहा है। अप्रमत्तसंयत सातवाँ ग्रणस्थान है<sup>६</sup> उसका स्वरूप इस प्रकार कहा है--घजिसके समस्त प्रमाद नष्ट हो गये हैं, जो व्रत, गुण और शीलसे शोभित है ; जो न तो मोहनीयका उपशम करता है और न क्षय करता है, केवल ध्यानमें लीन रहना है उस ज्ञानीको अप्रमत्तसंयत कहते हैं<sup>६</sup> अत्र अप्रमत्तसंयत अवस्थामें तो भोजनका विकल्प हो नहीं सकता<sup>६</sup> किन्तु छटे और सातवें गुणस्थानोंका काल अन्तर्मुहूर्त कहा है<sup>६</sup> अन्तर्मुहूर्तमें छटेसे सातवाँ और सातवेंसे छठा गुणस्थान होता रहता है<sup>६</sup> भोजन करते समय साधु द्रव्यसे अप्रमत्तसंयत हो सकता है<sup>६</sup> उस अवस्थामें भोजनके सम्बन्धमें सरस-नीरसका विकल्प करना साधुके लिए उचित नहीं है<sup>६</sup>

णट्टासेसपमाओ वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणो<sup>६</sup>

अणुवसमओ अखवओ ज्ञाणणिलीणो हु अपमत्तो<sup>६</sup>----गो. जीव., ४६ गा<sup>६</sup>

अथ देहात्मभेदभावनानिरुद्धविकल्पजालस्या साधोः शुध्दस्वात्मोपलम्भमभिनन्दति---

नीरक्षीरवदेकतां कलयतोरप्यग्ङ्पुंसोरचि--

च्चिभ्दावाद्यदि भेद एव तदलंभिन्नेषु कोऽभिद्भ्रमः<sup>६</sup>

इत्यागृह्य परादपोह्य सकलोन्मीलद्विकल्पच्छिदा-

स्वच्छेनास्वनितेने कोऽपि सुकृती स्वात्मानमास्तिधनुते<sup>६</sup> १४४

अलं भिन्नेषु---अत्यन्तपृथग्भूतेषु दारगृहादिषु<sup>६</sup> अभिद्भ्रमः---अभिद्भ्रमः---अभेदभ्रान्तिः<sup>६</sup> आगृह्य--  
-दृढं प्रतिपद्य<sup>६</sup> परात् ---देहादेः<sup>६</sup> अपोह्य---व्यावर्त्य<sup>६</sup> छिदा---छेदः<sup>६</sup> आस्वनितेन---मनसा<sup>६</sup> आस्तिधनुते---  
आस्कान्दति, अभेदेनानुभवतीत्यर्थः<sup>६</sup> १४४

शरीरके पोषणके लिए सात्विक भोजन मात्र उपयोगी है<sup>६</sup> सरस विरसके विकल्पमें इन्द्रियोंकी परवशता प्रतीत होती है<sup>६</sup> और उससे राग-द्वेषको बल मिलता है<sup>६</sup> १४३

आगे शरीर और आत्माके भेदज्ञानके द्वारा समस्त विकल्पोंको रोकनेवाले साधुके शुध्द स्वात्माकी उपलब्धिका अभिनन्दन करते हैं---

यद्यपि शरीर और आत्मा दूध और पानीकी तरह एकमेक हो रहे हैं फिर भी आत्माके चेतन और शरीरके अचेतन होनेसे यदि दोनोंमें भेद ही है तो अत्यन्त भिन्न स्त्री, मकान आदिमें अभेदके भ्रमका कोई प्रश्न ही नहीं है, वे तो भिन्न हैं ही<sup>६</sup> इस प्रकार शरीर आदिसे स्वात्माको भिन्न रूपसे दृढतापूर्वक जानकर

शरीरसे आत्माको भिन्न करके समस्त उत्पन्न होनेवाले विकल्पोंको अर्थात् अन्तर्जल्पसे सम्बद्ध विचारोंको छेदसे स्वच्छ हुए मनकेद्वारा कोई विरला ही पुण्यात्मा स्वात्माका अभेदरूपसे अनुभव करता है  
१४४

विशेषार्थ---स्वात्माकी उपलब्धिके लिए सबसे प्रथम भेदविज्ञान आवश्यक है स्व और परका भेदविज्ञान हुए बिना स्वात्माकी उपलब्धि नहीं हो सकती जो अपनेसे साक्षात् भिन्न स्त्री, पुत्र, धन, गृह आदि हैं उनसे अभिन्नताका भ्रम तो मोहमूलक है और उस मोहका मूल है शरीर-आत्मामें एकत्वकी भ्रान्ति यह भ्रान्ति यदि दूर हो जाये तो स्त्री, पुत्रादिकमें अभेदकी भ्रान्ति स्वतः दूर हो जायेगी शरीर-आत्मा दूध और पानीकी तरह मिले हुए हैं किन्तु आत्मा चेतन है और शरीर अचेतन है चेतन कभी अचेतन नहीं हो सकता और अचेतन चेतन नहीं हो सकता दोनों दो स्वतन्त्र द्रव्य हैं इस भेदज्ञानसे दोनोंको पृथक्पृथक् निश्चय करके मनमें उठनेवाले राग-द्वेषमूलका सब विकल्पोंको दूर करके निर्विकल्प मनकेद्वारा स्वात्माकी उपलब्धि या अनुभूति होती है किन्तु ऐसी अनुभूति करनेवाले बहुत ही विरल होते हैं कहा है-जो पुरुष स्वयं अथवा परके उपदेशसे किसी तरह भेदविज्ञानरूप मूल कारणवाली अविचल आत्मानुभूतिको प्राप्त करते हैं, वे ही पुरुष दर्पणकी तरह अपने आत्मामें प्रतिबिम्बित हुए अनन्त भावोंके स्वभावसे निरन्तर विकाररहित होते हैं अर्थात् उनके ज्ञानमें जो ज्ञेयोंके आकार प्रतिभासित होते हैं उनसे वे विकारको प्राप्त नहीं होते १४४

घकथमपि हिलभन्ते भेदविज्ञानमूला -

मचलितमनुभूतिं ये स्वातो वान्येतो वा

प्रतिफलननिमग्नानन्तभावस्वभावै--

मुं कुरवदविकाराः संततं स्युस्त एवड्----समयसार कलश, २१ श्लो.

अथ समरसीभावसमुज्जृम्भितसहजज्योतिषो मोहविजयातिशयं प्रकाशयति----

स्वार्थेभ्यो विरमय्य सुष्ठु करणग्रामं परेभ्यः पराक्

कृत्वान्तःकरणं निरुध्य च चिदानन्दात्मनि स्वात्मनि

यस्तत्रैव निलीय नाभिसरति द्वैतान्धकारं पुन--

स्तस्योद्दाममसीम धाम कतमच्छिन्दत्तमः श्राम्यति १४५

पराक् ---पराङ्मुखम् १ द्वैतान्धकारं---अयमहमयं पर इति विकल्पं ध्येयादिविकल्पं वा तम इव शुद्धात्मोपलम्भप्रतिबन्धकत्वात् १४५

अथ शुद्धस्वात्मोपलम्भोन्मुखस्य योगकाष्ठासौष्टावावाप्तिभित्तव्यतानुभावभावनामनुभावयति---

आगे कहते हैं कि उक्त प्रकारकी भावनाके बलसे समरसी भावके द्वारा जिनकी स्वाभाविक आत्माज्योति विकसित हो जाती है वे पुरुष मोहको जीत लेते हैं----

समस्त इन्द्रियोंको अपने अपने विषयोंसे अच्छी तरह विमख करके तथा मनको शरीर आदिसे विमुख करके और ज्ञानानन्दमय निज आत्मामें एकग्र करके जो उसीमें लीन हो जाता है, और द्वैतरूपी अन्धकारकी ओर पुनः अभिमुख नहीं होता, अर्थात् घ्यह में हूँड घ्यह पर हैड या ध्यान, ध्येय आदि विकल्प नहीं करता, उसे योगीका सीमा रहित और प्रतिबन्धरहित तेज किस चिरकालसे जमे हुए अज्ञान का छेदन नहीं करता, अपितु सभी प्रकारके अनादि आज्ञानके विलासको नष्ट कर देता है १४५

विशेषार्थ---मेरा चिदानन्दमय आत्मा शरीर आदिसे भिन्न है, इस भावनाके बलसे निर्विकल्प मनके द्वारा आत्माकी अनुभूति होती है १ यह अनुभूति ही इन्द्रियोंको अपने-अपने विषयोंसे विमुख होनेमें मूल कारण हैं आत्मानुभूतिके बिना जो विषयोंको प्रति अरुचि होती है वह स्थायी नहीं होती १ और जबतक इन्द्रियाँ विषयोंके प्रति रागी रहेंगी तबतक मन आत्मोन्मुख नहीं हो सकती १ आत्मासे मतलब है ज्ञानानन्दमय शुद्ध चिद्रूप १ जब मनमें राग-द्वेषमूलक विकल्पजाल छाया हुआ हो तब मनके स्थिर होनेकी बात ही व्यर्थ है १ ऐसे मनसे आत्मस्थिति सम्भव नहीं है १ कहा है---घजिसका मनरूपी जल राग--द्वेषरूपी लहरोंसे चंचल नहीं होता वही पुरुष आत्माके यथार्थ स्वरूपको देखता है, दूसरा मनुष्य उसे नहीं देख सकता १ ड

अन्य रागमूलक विकल्पोंकी तो बात ही क्या, घ्यह शरीर पर हैड यह विकल्प भी द्वैतरूप होनेसे शुद्धात्माकी उपलब्धिमें प्रतिबन्धक है १ इसीसे द्वैतको आन्धकारकी उपमा दी है १ उस अन्धकारके दूर होनेपर ही वह आत्माज्योति प्रकट होती है जो सब अनादि अज्ञानको नष्ट करती है १ उसीकी प्राप्तिके लिए सब त्यागादि है १ १४५

आगे शुद्ध स्वात्माकी उपलब्धिके प्रति अभिमुख हुए योगीके भविष्यमें होनेवाली योगकी चरम सीमाकी प्राप्तिके फलकी भावना व्यक्त करते हैं---

घरागद्देषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम् १

स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जनः १ ड १--समाधितन्त्र, ३५ श्लो. १

भावैर्वै भाविकैर्मे परिणतिमयतोऽनादिसंतानवृत्त्या,

कर्मण्यैरेकलोलीभवत उपगतैः पुद्गलैस्तत्त्वतः स्वम् १

बुद्ध्वा श्रद्धाय साम्यं निरुवधि दधतो मुत्सुधाब्धावगाधे,

स्याच्चेल्लीलावगाहस्तदयमघशिखी किं ज्वलेद्वाह्यशून्यः १ १४६

वैभाविके--औपाधिके मोहरागद्वेषैरित्यर्थः १ कर्मण्यैः--ज्ञानावरणादिकर्मयोग्यैः १ निरुपधि--- निर्दम्भम् १ दाह्यशून्यः---दाह्येन मोहद्याविष्टचिद्विवतैन तृणकाष्ठादिना च रहितः १ १४६

अथ समाधिमधिरुरुक्षोर्मुमुक्षोरत्नरात्मानुशिष्टिमुपदेष्टुमाचष्टे-----

अयमधिमउबाधो भात्यहं प्रत्ययो य-

स्तमनु निरवबन्ध बध्दनिर्व्याजसख्यम्

पथि चरसि मनश्चेत्तर्हि तध्दाम हीर्षे,

भवदवविपदो दिङ्मूढमभ्योषि नो चेत् १४७

अनादि सन्तान परम्परासे सदा मेरे साथ सम्बध्द ज्ञानावरण आदि कर्मोंके योग्य पुद्गलोंके साथ मेरा कथंचित् तादात्म्य जैसा सम्बन्ध हो रहा है और उन्हींका निमित्त पाकर होनेवाले राग-द्वेषरूप वैभाविक भावोंसे मैं परिणमन करता रहा हूँ अब यदि मैं यथार्थ रूपसे आत्माका श्रद्धान करके और उसका निश्चय करके तथा उपधि रहित साम्य भावको धारण करके गहरे आनन्दरूपी अमृतके समुद्रमें सरलतासे अवगाहन कर सकूँ तो क्या यह पापरूप अग्नि बिना ईंधनके जलती रह सकती है १४६

विशेषार्थ ----यह योगीकी यथार्थ भावना है इस भवनामें अपनी अतीत स्थितिके चित्रणके साथ ही उसके प्रतीकारका उपाय भी है जीव और कर्मोंके सम्बन्धकी परम्परा अनादि है पूर्वबध्द कर्मके उदयका निमित्त पाकर जीव राग-द्वेषरूप परिणमन स्वतः करता है और जीवके राग-द्वेष रूप परिणामोंका निमित्त पाकर कर्मण वर्गणाएँ स्वयं ज्ञानावरणादिरूपसे परिणामन करती हैं इससे छूटनेका उपाय है कर्मजन्य रागादि रूपसे परिणमन न करके राग और द्वेषकी निवृत्ति रूप साम्यभावको धारण करना इसीके लिए चारित्र धारण किया जाता है साम्यभावके आते ही आत्मामें आनन्दका सागर हिलोरें लेने लगता है उसमें डुबकी लगानेपर पापरूप अग्नि शान्त हो जाती है क्योंकि उसे रागद्वेषरूपी ईंधन न डाला जाये तो वह स्वतः शान्त हो जाती है यही स्थिति पापरूप अग्निकी भी है १४६

समाधिपर आरोहण करनेवाले मुमुक्षुको अन्तरात्मामें ही उपयोग लगानेका उपदेश देते हैं---

हे मन! जो यह आत्माको लेकर बाधारहित घमैड इस प्रकारका ज्ञान प्रतिभासित होता है, उसके साथ छल-कपटसे रहित गाढ मैत्रीभाव रखकर यदि मार्गमें अस्खलित रूपसे चलोगे तो उस वचनके अगोचर और एकमात्र स्वसंवेदनके द्वारा अनुभव होने योग्य स्थानको प्राप्त करोगे अन्यथा चलनेपर दिङ्मूढ होकर---गुरुके उपदेशमें मूढ बनकर संसाररूपी विपत्तियोंकी ओर जाओगे १४७

अधिमद्---मय्यात्मन्यधिकृत्य तमनु---तेन सह निरवबन्ध--अस्खलितम् अवाचागोचरतया स्वैकसंवेद्यतया वा प्रसिध्दं स्थानम् ईर्षे--गच्छसि दिङ्मूढं--गुरुपदेशे दिक्षा च व्यामुग्धम् १४७

अथैवमाकिञ्चन्यव्रतबध्दकक्षस्य भिक्षोः शिक्षामापाद्य पूर्वविभ्रमसंस्कारात्तत्र पुनः श्लथीभावावतारतिरस्काराय मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जन-लक्षणपञ्चभावनाप्रयोगपुरःसुरं प्रयत्नमावर्णयति---

विशेषार्थ ---अकलंक देवने कहा है कि छहमारा आत्माड ऐसा जो ज्ञान हमें होता है वह संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और सम्यक्ज्ञानमें-से कोई भी होनेसे आत्माका अस्तित्व सिध्द होता है<sup>१</sup> यह ज्ञान संशय तो है नहीं,क्योंकि निर्णय है<sup>१</sup> फिर भी यदि संशय है तब भी आत्माका अस्तित्व सिध्द होता है क्योंकि संशयका विषय अवस्तु नहीं होती<sup>१</sup> यह ज्ञान अनध्यवसाय भी नहीं है,अनादि कालसे इस तरहका ज्ञान सबको होता आ रहा है<sup>१</sup> यदि यह विपरीत ज्ञान है तब भी आत्माका अस्तित्व सिध्द होता है<sup>१</sup>जैसे पुरुषमें स्थाणुका ज्ञान होनेपर स्थाणुकी सिध्दि होती है<sup>१</sup> यदि यह सम्यग्ज्ञान है तब तो आत्माकी सिध्दिमें कोई विवाद ही नहीं रहता<sup>१</sup> आचार्य विद्यानन्दने कहा है---आत्मा सदा बाधारहित स्वसंवेदनसे सिध्द है<sup>१</sup> पृथ्वी आदि भूतोंकी पर्यायरूप चैतन्यविशिष्ट शरीररूप पुरुषमें स्वसंवेदन सम्भव नहीं है<sup>१</sup> घ्यह नील हेड इत्यादि ज्ञान स्वसंवेदन नहीं है क्योंकि वह तो बाह्य इन्द्रियोंसे होता है उससे घअहंङ प्रत्यय नहीं होता<sup>१</sup> घमें सुखी हूँङ यह ज्ञान उस प्रकारका नहीं है, इन दोनों ज्ञानोंका अन्तर स्पष्ट अनुभवमें आता है<sup>१</sup> घमें गौर हूँङ यह ज्ञान भी बाह्येन्द्रियसे उत्पन्न होनेसे उससे भिन्न है शारदा कहा जाये कि घमें सुखी हूँङ यह ज्ञान भी उसीके समान है<sup>१</sup> किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है<sup>१</sup> क्योंकि इस ज्ञानका आश्रय घमेंङ से भिन्न कोई दूसरा नहीं है<sup>१</sup> तथा सुखके सम्बन्धसे मैं सुखी हूँङ यह ज्ञान होता है<sup>१</sup> सुखका सम्बन्ध किसके साथ है यह विचार करनेपर उसका आश्रय कोई कर्ता होना चाहिए, उसके अभावमें घमें सुखी हूँङ इस प्रकार कर्तामें स्थित सुखका ज्ञान नहीं हो सकता<sup>१</sup> और वह कर्ता आत्मा ही हो सकता है क्योंकि वह शरीर, इन्द्रिय और विषय इन तीनोंसे विलक्षण है<sup>१</sup> और विलक्षण इसलिए है कि सुखदिका अनुभव उसे ही होता है<sup>१</sup> जो अनुभव करता है उसे ही स्मरण आदि भी होता है<sup>१</sup> जो मैं सुखका अनुभव करता था वही मैं अब हर्षका अनुभव करता हूँ इस प्रकारका अनुसन्धान निर्बाध होता है<sup>१</sup> इसलिए हे मन, जिसमें यह अनुपचरित घअहंङ रूप ज्ञान होता है उसीके साथ सच्ची मित्रता करेगा तो उस स्थानको प्राप्त करेगा जो वचनातीत है<sup>१</sup> और यदि गुरुके उपदेशको भूलकर मार्गभ्रष्ट हो गया तो संसारके दुःखोंमें फँस जायेगा<sup>१</sup> लोकमें भी देखा जाता है कि जो मार्गपर नहीं चलता वह दिशा भूलकर जंगलमें जाकर फँस जाता है<sup>१</sup>

<sup>१</sup>१४७

इस प्रकार आर्क्विन्न्यव्रतको दृढतासे पालन करनेमें तत्पर साधुको शिक्षा देनेके बाद, पूर्व गलत संस्कारवश साधु कहीं उसमें ढीला न पड जाये इस विचारसे इन्द्रियोंके प्रिय और अप्रिय विषयोंमें राग - द्वेषके त्यागरूप पाँच भावनाओंको भानेका उपदेश देते हैं---

घस्वसंवेदनतः सिध्दः सदात्मा बाधवर्जितात्<sup>१</sup>

तस्य क्षमादिविवर्तात्मन्यात्मन्यनुपपत्तितः<sup>१</sup>

स्वसंवेदनमप्यस्य बहिःकरणवर्जनात्<sup>१</sup>

अहंकाररस्पद स्पष्टमबाधमनुभूयते<sup>१</sup> ---त. श्लो. वा., १९६-१७<sup>१</sup>

यश्चार्वचारुविषयेषु निषिध्दय राग --

द्वेषौ निवृत्तिमधियन् मुहुरानिवर्त्यात्<sup>१</sup>

ईर्ते निवर्त्य विरहादनिवृत्तिवृत्ति ,

तद्धाम नौमि तमसग्ङ्मसग्ङ्सिंहम् १४८

अधियन् ---ध्यायन् आनिवर्त्यात्---निवर्तनीयं बन्धं बन्धनिबन्धनं च यावत् ईर्ते---गच्छति  
अनिवृत्तिवृत्ति---निवृत्तिप्रवृत्तिरहितम् तथा चावाचि---

घनिवृत्तिं भावयोद्यावन्निवर्त्य तदभावतः

न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेव पदमव्ययम्

रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम्

तौ च बाह्यार्थासम्बद्धौ तस्मात्तान् सुपरित्यजेत् [आत्मानु. २३६-२३७]

असग्ङ्---संततं निरुपलेपं च १४८

अथ स्वस्वभावनासंपादितस्थैर्याणि व्रतानि साधूनां समीहितं साधयन्तीत्युपदेशार्थमाह---

पञ्चभिः पञ्चभिः पञ्चऽप्येतेऽर्हिसादयो व्रतः

भावनाभिः स्थिरीभूताः सतां सन्तीष्टसिद्धिदाः १४९

स्पष्टम् १४९

---

जो पाँचों इन्द्रियोंके मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्श, गन्ध, रूप और शब्द विषयोंमें राग द्वेष न करके जबतक निवर्तनीय बन्ध और बन्धके कारण हैं तबतक बार-बार निवृत्तिकी भावनाका ध्यान करते हुए, निवर्तनीय---हटाने योग्यका अभाव होनेसे निवृत्ति और प्रवृत्तिसे रहित उस स्थानको प्राप्त होता है उस निरुपलेप निर्ग्रन्थ श्रेष्ठको मैं नमस्कार करता हूँ १४८

विशेषार्थ--इष्ट विषयोंसे राग और अनिष्ट विषयोंसे द्वेषका त्याग किये बिना परिग्रहत्यागव्रत परिपूर्ण नहीं होता अतः परिग्रहके त्यागीको उनका भी त्याग करना चाहिए उसके साथ जिनसे उसे यथार्थमें निवृत्त होना है वह है बन्ध ओर बन्धके कारण जबतक ये वर्तमान हैं तबतक उसे इनसे निवृत्त होनेकेलिए सदा जागरुक रहना होगा जब ये नहीं रहेंगे तभी वह उस मुक्तिको प्राप्त करेगा, जहाँ न निवृत्ति है और न प्रवृत्ति है कहा भी है---घजबतक छोडनेके योग्य शरीरदि बाह्य वस्तुओंके प्रति ममत्व भाव है तबतक निवृत्तिकी भावना करनी चाहिए और जब निवृत्त होनेकेलिए कुछ रहे ही नहीं, तब न तो निवृत्त रहती है और न प्रवृत्ति रहती है वही अविनाशी मोक्षपद है राग और द्वेषका नाम प्रवृत्ति है और उनके अभावका नाम निवृत्ति है ये दोनों ही बाह्य पदार्थोंसे सम्बद्ध हैं इसलिए बाह्य पदार्थोंका पूरी तरहसे त्याग करना चाहिए अर्थात् बाह्य पदार्थोंका त्याग मूल वस्तु नहीं है मूल वस्तु है रागद्वेषका त्याग किन्तु राग द्वेष बाह्य पदार्थोंको ही लेकर होता है इसलिए रागद्वेषके आलम्बन होनेसे बाह्य पदार्थोंको भी छोडना चाहिए ड इस प्रकार परिग्रह त्याग महाव्रतका कथन पूर्ण हुआ १४८

आगे अपनी भावनाओंके द्वारा स्थिरताको प्राप्त हुए व्रत साधुओंके मनोरथोंको सिद्ध करते हैं, यह उपदेश देते हैं---

ये पहले कहे गये हिंसाविरति, अनृतविरति, चौर्यविरति, अब्रह्मविरति और परिग्रहविरतिरूप पाँचों व्रत पाँच-पाँच भावनाओंके द्वारा निश्चलताको प्राप्त होनेपर साधुओंके इष्ट अर्थाके साधक होते हैं<sup>६</sup> ये भावनाएँ प्रत्येक व्रतके साथ पहले बतला आये हैं<sup>६</sup> १४९

अथोक्तालक्षणानां पञ्चानां व्रतानां महत्त्वसमर्थनपुरस्सरं रात्रिभोजनाविरमणलक्षणं षष्ठमणुव्रतं रक्षणार्थमुपदिशन्नुत्तरोत्तराभ्याससौष्टवेन सम्पूर्णकरणे सति निर्वाणलक्षणं फलं लक्षयति ---

पञ्चैतानि महाफलानि महतां मान्यानि विष्वग्विर ---

त्यात्मान्नीति महान्ति नक्तमशनोज्झाणुव्रताग्राणि ये ।

प्राणित्राणमुखप्रवृत्त्युपरमानुकार्तिपूर्णीभव --

त्साम्याः शुध्दृशो व्रतानि सकलीकुर्वन्ति निर्वान्ति ते ॥ १५० ॥

महतां मान्यानि --- गणधरदेवादीनामनुष्ठेयतया सेव्यानि इन्द्रादीनां वा दृगविशुद्धिविध्वयः तया पूज्यानि<sup>७</sup> विष्वग्विरत्यात्मानि --- स्थूलसूक्ष्मभेद --- सकलहिंसादिविरतिरुपाणि<sup>७</sup> उक्तं च ---

आचारितानि महन्द्रियच्च महान्तं प्रसाधयन्त्यर्थम्<sup>८</sup>

स्वयमपि महान्ति यस्मान्महाव्रतानीत्यतस्तानि<sup>८</sup> [ज्ञानार्णव १८ में उद्धृत ]

अपि च ----

महत्त्वहेतुर्गुणिभिः श्रितानि महान्ति मत्त्वा त्रिदशैर्नतानि<sup>९</sup>

महासुखस्थाननिबन्धनानि महाव्रतानीति सतां मतानि<sup>९</sup> [ ज्ञानार्णव १८/१ ]

नक्तमित्यादि --- नक्तं रात्रवशनस्य चतुर्विधाहारस्याज्झावर्जनं सेवाणुव्रतम्<sup>९</sup> तस्याश्चाणुव्रतत्वं रात्रावेव भोजननिवृत्तेदिवसे यथाकालं तत्र तत्प्रवृत्तिसंभवात्<sup>९</sup> तदग्रं प्रधानं येषां रक्षार्थत्वात्<sup>९</sup> तदुक्तम् ---

पाँचो व्रतोंका लक्षण पहले कह आये हैं<sup>६</sup> अब उनके महत्त्वका समथनपूर्वक उनकी रक्षाके लिए रात्रिभोजन विरति नामक छठे अणुव्रतका कथन करते हुए यह बताते हैं कि उत्तरोत्तर अच्छी तरह किये गये अभ्यासके द्वारा इन व्रतोंके सम्पूर्ण होनेपर निर्वाणरूप फलकी प्राप्ति होती है ---

ये पाँचो व्रत अनन्तज्ञानादिरूप महाफलवाले हैं, महान् गणधर देव आदिकेद्वारा पालनीय हैं अथवा दर्शनविशुद्धिकी वृद्धिकी कारण होनेसे इन्द्रादिकेद्वारा पूजनीय हैं और स्थूल तथा सूक्ष्म भेदरूप सकल हिंसा आदिकी विरतिरूप हैं इसलिए इन व्रतोंको महान् कहा जाता है<sup>६</sup> रात्रिभोजनत्याग नामक अणुव्रत

उनका अगुआ है उस प्रर्वक ही ये व्रत धारण किये जाते हैं<sup>६</sup> जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि नीचेकी भूमिकामें होनेवाली प्राणिरक्षा, सत्यभाषण, दत्तवस्तुका ग्रहण, अब्रह्म्य सेवन और योग्य परिग्रहका स्वीकाररूप प्रवृत्तिको उपरिम भूमिकामें त्याग कर उसके गुणश्रेणिरूप संक्रमके द्वारा सर्वसावद्ययोग विरतिरूप सामायिक चारित्रको प्राप्त करता है वह जीवन्मुक्तिको प्राप्त करके परम मुक्तिको प्राप्त करता है ॥ १५०<sup>६</sup>

विशेषार्थ --- उक्त पाँच व्रतोंको महाव्रत कहा जाता है<sup>६</sup> उसकी तीन उपपत्तियाँ बतलायी हैं<sup>६</sup> प्रथम उनका फल महान् है उनको धारण करनेपर ही अनन्त ज्ञानादिरूप महाफलकी प्राप्ति हाती है<sup>६</sup> दूसरे गणधर आदि महान् पुरुष भी उन व्रतोंको पालने हैं या महान् इन्द्रादि उनको पूजते हैं क्योंकि व्रतोंके पालनसे सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिमें वृद्धि होती है<sup>६</sup> तीसरे उनमें स्थूल और सुक्ष्म भेदरूप सभी प्रकारकी हिंसा असत्य, अदत्तादान, अब्रह्म्यचर्य और परिग्रहका पूर्ण त्याग होता है<sup>६</sup> इसलिए उन्हें महान कहा है<sup>६</sup> कहा भी है ----

सार्धेति जं महत्वं आयरिदाहं च जं महल्लेहिं<sup>६</sup>

जं च महल्लाइ सयं महव्वदाइं हवे ताइं<sup>६</sup> [भ. आ., ११८४ गा. ]

तेसिं चेव वयाणं रक्खत्थं रादिभोयणणियत्ती<sup>६</sup>

अव्वय पवयणमादाओ भावणाओ य सव्वाओ<sup>६</sup> [ भ. आरा. ११८५]

रात्रिभोजिनो हि मुनेहिंसादीनां प्राप्तिः शंका चात्मविपत्तिश्च स्यात्<sup>६</sup> तदप्युक्तम् ---

तेसिं पञ्चण्हं पिय वयाणमावज्जणं च संका वा<sup>६</sup>

आदविवत्तीअ हवेज्ज रादिभत्तप्पसंगाम्मिं<sup>६</sup> [ भ. आरा. ११८६]

रात्रौ हि भिक्षार्थ पर्यटन् प्राणिनो हिनास्ति दुरालोकत्वात्<sup>६</sup> दायकागमनमार्ग तस्यात्मनश्चावस्थानदेशमुच्छिष्टस्य निपातदेशमाहारं च योग्यमयोग्यं वा निरूपयितुं न शक्तोति कटच्छकादिकं वा शोधयितुम् । अतिसूक्ष्मत्रसानां दिवापि दुष्परिहात्त्वात्<sup>६</sup> पदविभागिकामेषणासमित्यालोचनां सम्यगपरीक्षितविषयां कुर्वन् कथमिव सत्यव्रती स्यात्<sup>६</sup> सुप्तेन स्वामिभूतेनादत्तमप्याहारं गृह्यतोऽस्यादानामपि स्यात् ? विद्विष्टा गोत्रिणो वैरिणो वा निःशंकित्वा रात्रौ मार्गादो ब्रह्मचर्य तस्य नाशयन्ति<sup>६</sup> दिवानीतं वसतौ निजभाजने धृतमाहारं रात्रौ भुञ्जानः सपरिग्रहश्च भवेत्<sup>६</sup> तथा मम हिंसादयः संवृता न वेति शङ्का रात्रिभाकजनः स्यात्<sup>६</sup> स्थाणुसर्पकष्टकादिभिरुपघातश्च<sup>६</sup> प्राणि आदि --- अधस्तनभूमिकायां प्राणिरक्षणे सत्यभाषणे दत्ताग्रहणे ब्रह्मचरणे योग्यपरिग्रह स्वीकरणे च या प्रवृत्तिस्तस्या उपरम उपरिमभूमिकाया व्यावर्तनं तस्यानुरीत्यानक्रमणेन पूर्णीभवन् सम्पूर्णतां गच्छन् साम्यं सर्वसावद्ययोगविरतिमात्रलक्षणं सामायिकचारित्रं येषां ते तथाभूत भूत्वा<sup>६</sup> सकलीकुर्वन्ति --- सामायिकशिखरारोहणेन सूक्ष्मसाम्परायकाष्ठामधिष्ठाय यथाख्यातरूपतां नयन्ति<sup>६</sup> निर्वाणं ते --- अयोग - -- चरमसमय एव चारित्रस्य सम्पूर्णीभावादयोगानामचारित्रस्य व्यापकत्वात्<sup>६</sup>



यतिः असंयमके निमित्तसे आनेवाले नवीन कर्मसमूहको रोकने रूप महान् प्रयोजनाके साधते हैं, महान् पुरुषोंके द्वारा पाले जाते हैं तथा स्वयं महान् होनेसे उन्हें महाव्रत कहते हैं। इन व्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रिभोजन विरति नामक छठा अणुव्रत भी कहा है। यथा ---उन्ही अहिंसादि -- व्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रिभोजननिवृत्ति नामक व्रत है। तथा पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप आठ प्रवचन माता हैं। जैसे माता पुत्रोंकी अपायसे रक्षा करती है वैसे ही पाँच समिति और तीन गुप्ति व्रतोंकी रक्षा करती हैं। तथा सभी भावनाएँ भी व्रतोंकी रक्षिका हैं।

रात्रिमें चारों प्रकारके आहारका त्याग रात्रिभोजननिवृत्ति है। उसे अणुव्रत का है क्योंकि जैसे हिंसा आदि पापोंका सर्वथा त्याग किया जाता है उस तरह भोजनका सर्वथा त्याग नहीं किया जाता। किन्तु केवल रात्रिमें ही भोजनका त्याग किया जाता है, दिनमें तो समयपर भोजन किया जाता है। इसलिए इसे अणुव्रत कहा है। विजयोदया टीकामें उक्त गाथाकी व्याख्या करते हुए कहा है --- यदि मुनि रात्रिमें भिक्षाके लिए विचरण करता है तो त्रस जीवों और स्थावर जीवोंका घात करता है। रात्रिके समय वह दाताके आनोका मार्ग, उसके अन्न आदि रखनेका स्थान, अपने खड़े होनेका स्थान, उच्छिष्ट भोजनके गिरनेका स्थान अथवा दिया जानेवाला आहार योग्य है या नहीं, यह सब वह कैसे जान सकता है ? जो सूक्ष्म जीव दिनमें भी कठिनतासे देखे जा सकते हैं उन्हें रात्रिमें कैसे देखकर उनका बचाव कर सकता है ? रात्रिमें आहार देनेके पात्र वगैरहका शोधन कैसे हो सकता है ? सम्यक् रीतिसे देखे बिना ही एषणा समितिकी आलोचना करनेपर साधुका सत्यव्रत कैसे रह सकता है ? स्वामीके सोनेपर उसके द्वारा नहीं दिया गया आहार ग्रहण करनेसे चोरीका

य अहंयाण -- भ. आ.

तथा चोक्तम् ---

सीलेसिं संपत्तो णिरुध्द णिस्सेस आसवो जीवो ।

कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि।

दोष लगता है। दिनमें किसी पात्रमें आहार लाकर रात्रिमें खानेसे अपरिग्रहव्रतका लोप होता है। किन्तु रात्रिभोजनका ही त्याग करनेसे पाँचों ही व्रत परिपूर्ण रहते हैं। अतः पाँचों व्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रिभोजन निवृत्ति व्रत है।

तत्त्वार्थसूत्रके सातवें अध्यायके प्रथम सूत्रमें हिंसा आदि पाँच पापोंके त्यागको व्रत कहा है। उसकी सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक आदि टीकाओंमें यह शंका की गयी है कि रात्रिभोजन नामका एक छठा अणुव्रत रात्रिभोजननिवृत्ति है उसको भी यहाँ कहना चाहिए ? इसका समाधान यह किया गया है कि उसका अन्तर्भाव अहिंसाव्रतकी आलोकित पानभोजन भावनामें होता है इसलिए उसे नहीं कहा है।

तत्त्वार्थधिगम भाष्यमें इसकी कोई चर्चा नहीं है। किन्तु सिद्धसेन गणने उसकी टीकामें इस चर्चाको उठाया है जो सर्वार्थसिद्धि तत्त्वार्थवार्तिकका ही प्रभाव प्रतीत होता है। उसमें कहा है- जैसे असत्य आदिका त्याग अहिंसाव्रतके परिपालनके लिए होनेसे मूलगुण है उसी तरह रात्रिभोजनविरति भी मूलगुण होना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि महाव्रतधारीके लिए ही वह मूलगुण है क्योंकि उसके बिना मूलगुण पूर्ण नहीं हो सकते। अतः अहिंसा आदि मूलगुणोंके ग्रहणमें उसका ग्रहण आ जाता है। तथा जैसे रात्रि भोजन सब व्रतोंका उपकारी है वैसे उपवास आदि उपकारी नहीं हैं। इसलिए महाव्रततीका वह मूलगुण है, शेष उत्तरगुण हैं। किन्तु अणुव्रतधारीका रात्रिभोजनत्याग उत्तरगुण है क्योंकि उसमें आहारका त्याग होता है। अथवा वह उपवासकी तरह तप ही है। रात्रिभोजनमें क्या दोष है इसके उत्तरमें वही बातें कही गयी हैं जो ऊपर विजयोदया टीकामें और तत्त्वार्थवार्तिकमें कही हैं। विशेषावश्यक भाष्य ( गा. १२४०-४५ ) में भी वही कथन है जो सिद्धसेन गणिकी टीकामें है। श्वे. आगम साहित्यमें भी पाँच मूलगुणोंके साथ छठे रात्रि - भोजननिवृत्तिका निर्देश पाया जाता है। किन्तु उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं बतलायी है।

यहाँ यह शंका हो सकता है कि रात्रिभोजनका त्याग तो गृहस्थ अवस्थामें ही हो जाता है फिर मुनि अवस्थामें उसके त्यागका विधान क्यों किया गया? इसका समाधान यह है कि गृहस्थ अवस्थामें मन, वचन, कायसे ही रात्रिभोजनका त्याग किया जाता है, कृत, कारित, अनुमोदनासे नहीं; क्योंकि गृहस्थ अवस्थामें इनसे बचाव होना कठिन होता है, स्वयं रात्रिभोजन न करके भी दूसरोंके लिए प्रबन्ध करना या कराना पडता है। न भी करें या करावें तब भी अनुमोदनसे बचना कठिन होता है। किन्तु मुनि नौ प्रकारोंसे रात्रिभोजनका त्याग करता है। तत्त्वार्थसूत्रके नौवें अध्यायके अन्तिम सूत्रकी व्याख्यामें सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकमें कहा है कि पाँच मूल गुण और रात्रिभोजन त्यागमें - से बल-

ननु च षष्ठमणुव्रतमस्ति रात्रिभोजनविरमणं तदिहोपसंख्यातव्यम्<sup>६</sup> न, भावनास्वन्तर्भावात्<sup>६</sup>  
 अहिंसाव्रतभावना वक्ष्यन्ते<sup>६</sup> तत्र आलोकितपानभोजनभावना कार्यति<sup>६</sup>ड---सर्वार्थ.<sup>६</sup>  
 पञ्चानां मूलगुणानां रात्रिभोजनवर्जनस्य च पराभियोगाद् बलादन्यतमं प्रतिसेवमानः पुलाको भवति<sup>६</sup>ड

अपि च -

यस्य पुण्यं च पापं च निष्फलं गलति स्वयम्

स योगी तस्य निर्वाणं न तस्य पुनरास्त्रवः<sup>६</sup> [ आत्मानु. २४६ । ] ॥ १५० ॥

पूर्वक किसी एकमें प्रतिसेवना करनेवाला पुलाक मुनि होता है। श्रुतसागरी टीकामें इसे स्पष्ट करनेके अभिप्रायसे यह शंका की गयी है कि पुलाक मुनि रात्रिभोजन त्याग व्रतकी विराधना कैसे करता है? तो उसके समाधानमें कहा गया है कि इससे श्रावक आदिका उपकार होगा इस भावनासे छात्र आदिको रात्रिमें भोजन करानेसे विराधना होती है। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि मुनि नौ प्रकारसे

रात्रिभोजनका त्यागी होता है। सर्वार्थसिद्धिपर आचार्य प्रभाचन्द्रका जो टिप्पण है उसमें यही अर्थ किया है। उसीका अनुसरण श्रुतसागरीमें किया है। अस्तु,

आचार्य कुन्दकुन्दने धर्मका स्वरूप इस प्रकार कहा है -निश्चयसे चारित्र धर्म है। वही साम्य है मोह और क्षोभसे रहित आत्माका परिणाम साम्य है। मोह और क्षोभसे रहित आत्माका परिणाम साम्य है।

इसकी व्याख्यामें आचार्य अमृत चन्द्रने स्वरूपमें चरणको अर्थात् स्वसमयप्रवृत्तिको चारित्र कहा है और उसीको वस्तु स्वभाव होनेसे धर्म कहा है। धर्म अर्थात् शुद्ध चैतन्यका प्रकाशन ! वही यथावस्थित आत्मगुण होनेसे साम्य है। और साम्य दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयके उदयसे उत्पन्न होनेवाले समस्त मोह और क्षोभके अभावसे उत्पन्न अत्यन्त निर्विकार ऐसा जीवका परिणाम है। इस तरह मोह और क्षोभसे रहित जीवपरिणामका नाम साम्य है। साम्य ही धर्म है और धर्म चारित्र है अर्थात् ये सब एकार्थवाची हैं।

आचार्य समन्तभद्रने कहा है -मोहरू पी अन्धकारके दूर होनेपर सम्यदर्शनके लाभसे साथ ही सम्यग्दर्शनके लाभके साथ ही सम्यग्ज्ञानको प्राप्त करके साधु राग और द्वेषकी निवृत्तिके लिए चारित्रको धारण करता है।

वह चारित्र साम्यभावरूप सामायिक चारित्र ही है। उसीको पुष्टिके लिए साधु पाँच महाव्रतोंको धारण करता है। नीचेकी भूमिका अर्थात् गृहस्थ धर्ममें प्राणिरक्षा, सत्यभाषण, दी हुई वस्तुके ग्रहण, ब्रह्मचर्य और योग्य परिग्रहके स्वीकारमें जो प्रवृत्ति होती है, ऊपरकी भूमिकामें उसकी भी निवृत्ति हो जाती है। ऐसा होनेसे सर्वसावद्य योगकी निवृत्तिरूप सामायिक चारित्र परिपूर्ण होता हुआ सूक्ष्म साम्परायकी अन्तिम सीमाको प्राप्त करके यथाख्यात रूप हो जाता है। यद्यपि यथाख्यात चारित्र बारहवें गुणस्थानके प्रारम्भमें ही प्रकट हो जाता है तथापि उसकी पूर्णता चौदहवें अयोगके मन्त्री गुणस्थानके अन्तिम समयमें

धमहाव्रतलक्षणपञ्चमूलगुणविभावरीभोजनवर्जनानां मध्येऽन्यातमं वलात् परोपरोधात् प्रतिसेवमानः

पुलाको विराधको भवति ° रात्रि भोजनवर्जनस्य विराधकः कथामिति चेत् ? उच्यते ---

श्रावकादीनामुपकारोऽनेन भविष्यतीति छात्रादिकं रात्रौ भोजयतीति विराधकः स्यात् °

घचारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्धिं °

मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ° ---प्रवचनसार, गा. ७ °

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादववाप्तसंज्ञानः °

रागद्वेषनिवृत्त्यै चरण प्रतिपद्यते साधुः ° ---रत्नकर. श्रा., ४७ °

अथ मैत्री- प्रमोद - कारुण्य - माध्यस्थानि सत्त्व - गुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु यथाक्रमं भावयतः  
सर्वाण्यपि व्रतानि परं दाढर्यमासादयन्तीति तद्भावनाचतुष्टये मुक्तिकामान् नियोक्तुमभिधत्ते -

मा भूत्कोपीह दुःखी भजतु जगदसभ्दर्म शर्मैति मैत्री  
ज्यायो हृत्तेषु रज्यन्नयनमधिगुणेष्वेष्टिति प्रमोदम् ।  
दुःखाद्रक्षेयमार्तान् कथमिति करुणां ब्राह्मि मामेहि शिक्षा  
काऽद्रव्येष्वित्युपेक्षामपि परमपदाभ्युद्यता भावयन्तु ॥ १५१ ॥

ही होती है। इस विषयमें आचार्य विद्यानन्द स्वामीने अपने तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकमें जो महत्त्वपूर्ण चर्चा की है उसे यहाँ दिया जाता है।

लिखा है - केवलज्ञानकी उत्पत्तिसे पहले ही सम्पूर्ण यथाख्यात चारित्र उत्पन्न हो जाता है ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए। वह यथाख्यात चारित्र मुक्तिको उत्पन्न करनेमें सहकारी विशेषकी अपेक्षा रखता है अतः वह पूर्ण नहीं हो सकता। जो अपने विवक्षित कार्यको करनेमें अन्त्य क्षण अवस्थाको प्राप्त होता है वही सम्पूर्ण होता है। किन्तु केवलज्ञानकी उत्पत्तिसे पूर्वका चारित्र अन्त्य क्षण प्राप्त नहीं है क्योंकि केवलज्ञानके प्रकट होनेके भी पत्र्यात् अघातिकर्मोंका ध्वंस करनेमें समर्थ सामग्रीसे युक्त सम्पूर्ण चारित्रका उदय होता है। शायद कहा जाये कि ऐसा माननेसेयथाख्यात पूर्ण चारित्र हैइस आगमवचनमें बाधाआती है। किन्तु ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि आगममें उसे क्षायिक होनेसे पूर्ण कहा है। समस्त मोहनीय कर्मके क्षयसे प्रकट होनेवाला चारित्र अंशरू पसे मलिन नहीं होता इसलिए उसे सदा निर्मल और आत्यन्तिक कहा जाता है। किन्तु वह चारित्र पूर्ण नहीं है। उसका विशिष्ट रूप बादमें प्रकट होता है। चारित्रक वह विशिष्ट रूप है नाम आदि तीन अघाति कर्मोंकी निर्जरा करनेमें समर्थ समुच्छिन्न क्रियाप्रतिपाति ध्यान। वह ध्यान चौदहवें गुणस्थानमें ही होता है। अतः अयोगकेवलीकेअन्तिम समयमें ही चारित्र पूर्ण होता है। योगीकेरहते चारित्र पूर्ण नहीं होता।

कहा भी है - घ्जो शीलके चौरासी हजार भेदोंके स्वामित्वको प्राप्त हैं, जिनके समस्त आस्त्रवोंक निरोध हो गया है तथा जो कर्मरजसे युक्त हो गये हैं ऐसे जीव अयोगकेवली होते हैं।

और भी कहा है - घजिसका पुण्य और पाप बिना फल दिये स्वयं झड जाता है वह योगी है, उसका निर्वाण होता है, वह पुनः आस्त्रवसे युक्त नहीं होता। ॥ १५० ॥

प्राणि मात्रमे मैत्रि, गुणी जनोंमें प्रमोद, दुःखी जीवोंमें दया भाव, और अविनेयोंमें माध्यस्थ्य भावका भावन करनेसे सभी व्रत अत्यन्त दृढ होते हैं। इसलिए इन चारों भावनाओंमें मुमुक्षुओंको नियुक्त करनेकी प्रेरणा करते हैं -

इस लोकमें कोई प्राणी दुःखी न हो, तथा जगत् पारमार्थिक सुखको प्राप्त करे, इस प्रकारकी भावनाको मैत्री कहते हैं । जैसे चक्षु सामने दिखाई देनेवाले गुणाधिकोंको देखकर अनुरागसे खिल उठती है वैसे ही सुदूरवर्ती और अतीतकालमें हुए सम्यग्ज्ञान आदि गुणोंसे उत्कृष्ट पुरुषोंको स्मरण करके रागसे द्रवित हुआ हृदय अत्यन्त प्रशंसनीय होता है इस प्रकार ---

प्रागेव क्षायिकं पूर्ण क्षायिकत्वेन केवलात्<sup>६</sup>

न त्वघातिप्रतिध्वंसिकरणोपेतरूपतः<sup>६</sup> ---त. श्लो. वा. ११८५

दुःखी - दुःखेन च पापेन युक्तः । असभ्दर्म - अविद्यमानव्याजं पारमार्थिकमित्यर्थः । यदाह -

घ्मा कार्षीत् कोऽपि पापानि माभूत् कोऽपि दुःखितः ।

मुच्यतां जगदप्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते ॥ [ ]

ज्यायः - प्रशस्यतरम् । हृत् - मनः । तेषु - सम्यग्ज्ञ. नादिगुणोत्कृष्टे ( - षु ) देशकाल-  
विप्रकृष्टेषु स्मृतिविषयेषु । एषु - पुरोवर्तिषु दृश्यमानेषु । प्रमोदं  
वदनप्रसादादिभिरभिव्यज्यमानमन्तर्भक्तिरागम् । तथा चाह -

अपास्ताशेषदोषाणां वस्तुतत्त्वावलोकिनाम् ।

गुणेषु पक्षपातो यः स प्रमोदः प्रकीर्तितः ॥ [ ]

करुणां - दीनानुग्रहभावम् । तथा चाह -

दीनेष्वार्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम् ।

प्रतीकारपरा बुद्धिः कारुण्यभिधीयते ॥ [ ]

ब्राह्मि - हे वाग्देवि । मां - साम्यभावनापरमात्मानम् । अद्रव्येषु -  
तत्त्वार्थश्रवणग्रहणाभ्यामसंपादितगुणेषु । उपेक्षां - माध्यस्थ्यम् । यदाह -

घ्कूरकर्मसु निःशङ्कं देवतागुरुनिन्दिषु ।

आत्मशंसिषु योपेक्षा तन्माध्यस्थ्यमुदीरितम् ॥ [ ]

इमानि च मैत्र्यादिसूक्तानि येयानि -

कायेन मनसा वाचा परे सर्वत्र देहिनि ।

अदुःखजननी वृत्तिर्मैत्री मैत्रीविदां मता ॥

---

की भावनाको प्रमोद कहते हैं। घमें दुःखसे पीडित प्राणियोंकी कैसे रक्षा करूँ ड इस प्रकारकी भावना करुणा है। हे वचनकी अधिष्ठात्री देवी ! तुम मेरे साम्यभावमें लीन आत्मामें अवतरित होओ, अर्थात् बोलो मत, क्योंकि जिनमें सज्जनोंके द्वारा आरोपित गुणोंका आवास नहीं है अर्थात् जो अद्रव्य या अपात्र हैं उनको शिक्षा देना निष्प्रयोजन है इस प्रकारकी भावना माध्यस्थ है। जो अनन्त चतुष्टयरूप परम पदको प्राप्त करनेकेलिए तत्पर हैं उन्हें इन भावनाओंका निरन्तर चिन्तन करना चाहिए ॥ १५१ ॥

विशेषार्थ - तत्त्वार्थसूत्र ( ७११ ) में ब्रतीकेलिए इन चार भावनाओंका कथन किया है। परमपदके इच्छुक ही ब्रतादि धारण करते हैं अतः उन्हें ये भावनाएँ क्रियात्मक रूपसे भानी चाहिए। प्रथम है मैत्री भावना। मित्रके भाव अथवा कर्मको मैत्री कहते हैं। प्राणिमात्रको किसी प्रकारका दुःख न हो इस प्रकारकी आन्तरिक भावना मैत्री है। दुःखके साथ दुःखका कारण जो पाप है वह भी लेना चाहिए। अर्थात् कोई प्राणी पापकर्ममें प्रवृत्त न हो ऐसी भी भावना होनी चाहिए। केवल भावना ही नहीं, ऐसा प्रयत्न भी करना चाहिए। कहा है - छान्य सब जीवोंको दुःख न होड मन, वचन और कायसे इस प्रकारका बरतावं करनेको मैत्री कहते हैं।

जो अपनेसे विशिष्ट गुणशाली हैं उनको देखते ही मुख प्रफुल्लित होनेसे आन्तरिक भक्ति प्रकट होती है। उसे ही प्रमोद कहते हैं तप आदि गुणोंसे विशिष्ट पुरुषको देखकर जो विनयपूर्वक हार्दिक प्रेम उमडता है उसे प्रमोद कहते हैं।